(४) रामानुज-दर्शनम्

तत्त्वत्रयं चिदचिदीश्वररूपमस्या—
विद्याकृतं न तु जगत्सविशेष ईशः।
भक्तिश्च तत्र फलितेत्युपदेशकाय
रामानुजाय सततं प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥—ऋषिः।

(१. अनेकान्तवाद का खण्डन)

तदेतदार्हतमतं प्रामाणिकगर्हणमर्हति। न ह्येकस्मिन्वस्तुनि परमार्थे सति परमार्थसतां युगपत्सदसत्त्वादिधर्माणां समावेशः सम्भवति। न च सदसत्त्वयोः परस्परविरुद्धयोः समुच्चयासम्भवे विकल्पः किं न स्यादिति वदितव्यम्। क्रिया हि विकल्प्यते न वस्त्विति न्यायात्।

जैनों का यह (अनेकान्तवाद का) सिद्धान्तवाद कतिपय प्रमाणों से काटा (निन्दित किया) जा सकता है। इसका कारण यह है कि वस्तु में एक ही पारमार्थिक सत्ता (Ultimate reality) हो सकती है, उस सत्ता में एक ही साथ सत्ता, असत्ता आदि (सात) धर्मों से युक्त पारमार्थिक सत्ताओं का समावेश नहीं हो सकता। [पारमार्थिक या अन्तिम दशा में वस्तु का एक धर्म ही, जैसे सत्ता या असत्ता, स्थिर किया जा सकता है। अनेकान्तवादियों की तरह एक ही साथ सात-सात धर्मों को मान लेना असम्भव है।]

कोई यह नहीं कह सकता कि सत् और असत् चूँकि परस्पर विरोधी हैं और उनका समुच्चय (Combination) होना सम्भव नहीं है, इसलिए उस प्रकार के धर्मों में विकल्प क्यों नहीं होगा? विकल्प क्रिया का ही होता है वस्तु का नहीं—ऐसा नियम है, अतः विकल्प नहीं मान सकते। [अनेकान्तवादी की ओर से इस उत्तर की अपेक्षा है कि विकल्प द्वारा विभिन्न धर्मों का एकत्र समावेश हो सकता है। जहाँ समुच्चय सम्भव नहीं है वहाँ विकल्प किया जाता है। उदाहरण के लिए—'उदिते जुहोति' और 'अनुदिते जुहोति' में विकल्प है। पहले वाक्य में सूर्योदय के बाद होम करने का विधान है, दूसरे वाक्य में सूर्योदय के पूर्व ही होम करना विहित है। उदित और अनुदित दोनों होम एक साथ नहीं हो सकते, अतः यहाँ विकल्प करते हैं—कुछ लोग सूर्योदय के बाद करें, कुछ लोग

पहले। यहाँ भी उसी प्रकार क्यों नहीं मान लें ? उत्तर यों दे सकते हैं—जो वस्तु साध्य होती है उसी में कर्त्ता, कर्म, अधिकरण आदि बदल-बदल कर विकल्प कर सकते हैं, क्रिया (साध्य) का ही विकल्प सम्भव है। जो वस्तु पहले से सिद्ध है, वह तो किसी एक प्रकार से सिद्ध होती है, उसमें विकल्प कहाँ से आवेंगे ? सत्ता सिद्ध वस्तु (Completed action) है, उसका कोई एक ही प्रकार हो सकता है—'जुहोति' साध्य (क्रिया) है जिसके लिए विकल्प दिये जा सके।]

न च 'अनेकान्तं जगत्सर्वं हेरम्बनरसिंहवत्' इति दृष्टान्तावष्टम्भवशादेष्टव्यम्। एकस्मिन्देशे गजत्वं सिंहत्वं वाऽपरस्मिन्नरत्वमिति देशभेदेन विरोधाभावेन तस्यैकस्मिन्देश एव सत्त्वासत्त्वादिनाऽनेकान्तत्वाभिधाने दृष्टान्तानुपपत्तेः। ननु द्रव्यात्मना सत्त्वं पर्यायात्मना तदभाव इत्युभयमप्युपपन्नमिति चेत्, मैवम्—कालभेदेन हि कस्यचित्सत्त्वमसत्त्वं च स्वभाव इति न कश्चिद्दोषः।

निम्नलिखित दृष्टान्त को आधार (अवष्टम्भ) मानकर भी यह सिद्ध नहीं हो सकता—'समूचा संसार अनेकान्त (Multiform) है जिस प्रकार गणेश (गज का सिर और मनुष्य की धड़) और नरसिंह (सिंह का सिर और मनुष्य की धड़) हैं।' यह दृष्टान्त हमारी प्रकृत समस्या में लग नहीं सकता, क्योंकि इस दृष्टान्त में तो एक देश (खंड, भाग, Part) में गज या सिंह का स्वरूप है, दूसरे भाग में मनुष्य का स्वरूप है—देशों का अन्तर है इसलिए विरोध की कल्पना नहीं हो सकती। परन्तु अनेकान्तवाद में एक ही भाग में सत्त्व, असत्त्व आदि (धर्मों को) मानकर अनेकान्त सत्ता स्वीकृत की जाती है। [दृष्टान्त में देशभेद है, अतः दो पक्ष सम्भव हैं; जबकि अनेकान्तवाद में देश का बिना भेद किये ही एक ही जगह कई पक्ष मान लेते हैं, जो कभी संभव नहीं।]

यदि कोई यह कहे कि किसी द्रव्य के रूप में सत्ता मानें (जैसे मिट्टी की सत्ता) और उसके पर्यायों (विभिन्न अवस्थाओं, जैसे—मिट्टी का पिंड, खप्पड़, घट आदि) के रूप में असत्ता मानें और इस प्रकार दोनों को ही सिद्ध कर डालें, तो [हमारी आपत्ति है कि] ऐसा नहीं होगा—काल के भेद से किसी वस्तु का सत् (Existent) और असत् (Non-existent) होना तो उसका स्वभाव ही है, इसमें कोई दोष नहीं है। [मिट्टी के पिण्ड में मिट्टी की सत्ता है, घट आदि की असत्ता; उसी प्रकार घट की अवस्था में मिट्टी (द्रव्य) की सत्ता

है, कपाल (Potsherd) आदि की असत्ता। आशय यही है कि मूल द्रव्य की सत्ता किसी भी अवस्था (पर्याय) में रहती है, अन्य पर्यायों की नहीं। लेकिन यहाँ काल का भेद स्पष्ट है। मृत्पिण्ड के काल में घट नहीं, घट के काल में कपाल नहीं; किसी काल में एक की सत्ता और दूसरी की असत्ता होती है। यह तो अत्यन्त स्वाभाविक है। फलितार्थ यह हुआ कि देश (Space) और काल (Time) के भेद से असत् और सत् को स्वीकार कर सकते हैं। कोई वस्तु सत् भी है असत् भी, किन्तु कैसे ? देश-भेद या काल-भेद से। यह नहीं कि अनेकान्तवादी की तरह एक ही काल और एक ही देश में वस्तु के कई परस्पर विरोधी धर्म मान लें।]

न चैकस्य ह्रस्वत्वदीर्घत्ववदनेकान्तत्वं जगतः स्यादिति वाच्यम्। प्रतियोगिभेदेन विरोधाभावात्। तस्मात्प्रमाणाभावाद्युगपत्सत्त्वासत्त्वे परस्परविरुद्धे नैकस्मिन्वस्तुनि वक्तुं युक्ते। एवमन्यासामपि भङ्गीनां भङ्गोऽवगन्तव्यः।

ऐसा भी नहीं कह सकते कि जिस प्रकार एक ही साथ एक वस्तु का छोटा और बड़ा दोनों रूप रह सकता है उसी प्रकार संसार को अनेकान्त मान लें। [ऐसा इसलिए नहीं कह सकते कि उसका छोटा और बड़ा होना] विभिन्न वस्तुओं पर आधारित (प्रतियोगि) है—इसलिए किसी विरोध का अवकाश नहीं। [अभिप्राय यह है कि जैसे त्र्यणुक में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व दोनों है उसी प्रकार जगत् सत् और असत् दोनों है। लेकिन यह समानता ठीक नहीं, त्र्यणुक का छोटा और बड़ा होना सापेक्ष है, किसी भिन्न प्रतियोगी की अपेक्षा रखता है, जैसे—चतुरणुक और द्व्यणुक। चतुरणुक की अपेक्षा वह छोटा है, द्व्यणुक की अपेक्षा बड़ा। ऐसी ही दशा में हम त्र्यणुक में दो विरुद्ध (Contrary) धर्म एक साथ मानते हैं, जो स्वाभाविक है, असमंजस नहीं। किन्तु जगत् को सत्-असत् मानने के समय यह बात नहीं मिलती। कोई प्रतियोगी नहीं है जिसकी अपेक्षा उसे सत् या असत् कहें। दूसरे, ह्रस्वत्व और दीर्घत्व अत्यन्त विरोधी (Contradictory) नहीं, जब कि सत्-असत् ऐसे हैं।]

निष्कर्ष यह निकला कि प्रमाणों के अभाव में (हमारे तर्कों से खण्डित होने से) परस्पर विरोधी (Mutually contradictory or exclusive) सत् और असत् को, एक ही साथ, एक ही वस्तु में स्थित कहना ठीक नहीं है। इसी प्रकार अन्य भंगियों का भी खण्डन समझ लें।

विशेष—अनेकान्तवाद की रक्षा करने के लिए जैनों से चार युक्तियों की अपेक्षा रखी जाती है—(१) समुच्चय के अभाव में विकल्प मानते हुए दो

विरुद्ध पदार्थों को एक साथ मानना, (२) गणेश और नरसिंह के शरीर की तरह संसार को अनेकान्त मानना, (३) द्रव्य के रूप में सत्ता और उसके पर्यायों के रूप में असत्ता मानना तथा (४) एक वस्तु में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व की तरह संसार को अनेकान्त मानना। किन्तु इनकी ये युक्तियाँ संसार को अनेकान्त सिद्ध नहीं कर पातीं क्योंकि सामान्यतया हमलोग भी दो विरोधियों का एक वस्तु में समावेश कर्ता आदि के भेद से (१), देश (स्थान) के भेद से (२), अवस्था अथवा काल के भेद से (३) या प्रतियोगियों के भेद से (४) मानते हैं—तात्पर्य यह है कि कुछ-न-कुछ उपाधि लगा कर ही दो विरोधियों का एक में समावेश हो सकता है, जैनों की तरह निरुपाधि विरोधी एक साथ, एक ही काल में नहीं मान सकते। अब उनके सप्तभङ्गीनय पर ही प्रहार किया जायगा।

(२. सप्तभंगीनय की निस्सारता)

किं च, सर्वस्यास्य मूलभूतः सप्तभङ्गिनयः स्वयमेकान्तोऽनेकान्तो वा। आद्ये सर्वमनेकान्तमिति प्रतिज्ञाव्याघातः। द्वितीये विवक्षितार्थासिद्धिः। अनेकान्तत्वेनासाधकत्वात्। तथा चेयमुभयतःपाशा रज्जुः स्याद्वादिनः स्यात्।

अपि च, नवत्वसप्तत्वादिनिर्धारणस्य फलस्य तन्निर्धारयितुः प्रमातुश्च तत्करणस्य प्रमाणस्य प्रमेयस्य च नवत्वादेरनियमे साधु समर्थितमात्मनस्तीर्थकरत्वं देवानांप्रियेणार्हतमतप्रवर्तकेन।

अब जरा यही पूछें कि जो इन सारे प्रपंचों की जड़ सप्तभंगीनय है, वह स्वयं एकान्त (निश्चित स्वरूपवाला) है या अनेकान्त (अनिश्चित स्वरूपवाला)। यदि प्रथम विकल्प मानते हैं तो 'सब कुछ अनेकान्त है' इस प्रतिज्ञा (Axiom) का ही विरोध होता है। [सप्तभंगीनय यदि एकान्त (निश्चित स्वरूपवाला) है तो फिर किस मुँह से सब चीजों को अनेकान्त मानेंगे—क्या सप्तभंगीनय 'सब कुछ' के अन्तर्गत नहीं है ? इस प्रकार असामंजस्य उत्पन्न होता है।] यदि दूसरा विकल्प मानते हैं तो इष्ट वस्तु की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि अनेकान्त हो जाने से सप्तभंगीनय प्रामाणिक नहीं हो सकता, किसी वस्तु को सिद्ध नहीं कर सकता (जो स्वयम् अनिश्चित है उससे वस्तुओं या पदार्थ की सिद्धि की क्या

अपेक्षा करें ?) इस प्रकार स्याद्वादियों के गले में दोनों ओर से फन्दा (बन्धन) देनेवाली रस्सी पड़ जाती है (वे किसी ओर भाग नहीं सकते)।

इसके अतिरिक्त, (तत्त्वों की संख्या) नव या सात मानी गयी है, यह निर्धारण करना फल है, निर्धारण करनेवाला प्रमाता (Knower) है, उसके निर्धारण का साधन (करण) प्रमाण है, (ये तत्त्व स्वयं) प्रमेय हैं— इन सबों में नव आदि का नियम हो ही नहीं सकता। [यदि इन सबों का स्वरूप निश्चित मानें तो 'सब कुछ अनेकान्त है' की प्रतिज्ञा कहाँ रही ? यदि इनका स्वरूप अनिश्चित है तो इतने प्रपंच की क्या आवश्यकता है ? इतने तत्त्व, प्रमाण, प्रमाता, फल आदि का वर्णन करके कहते हैं कि सब कुछ अनेकान्त है। यह क्या खेल है ?] आर्हत-मत के प्रवर्तक, मूर्खसम्राट् ने अपनी शास्त्र-निर्माण-शक्ति का अच्छा प्रदर्शन किया है ! (इस प्रकार अनेकान्तवाद अपने सिद्धान्त से ही अपनी जड़ खोद देता है। जब सब कुछ अनिश्चित है तो अनेकान्तवाद भी अनिश्चित, जैनों का पूरा दर्शन ही अनिश्चित, सारे तत्त्व, उनके प्रमाण, प्रमाता आदि सब अनिश्चित ! साधु ! साधु !! ऐसे दर्शन को शत शत प्रणाम !!)

(३. जीव के परिमाण का खण्डन)

तथा जीवस्य देहानुरूपपरिमाणत्वाङ्गीकारे योगबलादनेकदेहपरिग्राहकयोगिशरीरेषु प्रतिशरीरं जीवविच्छेदः प्रसज्येत। मनुजशरीरपरिमाणो जीवो मतङ्गजदेहं कृत्स्नं प्रवेष्टुं न प्रभवेत्। किं च गजादि शरीरं परित्यज्य पिपीलिकाशरीरं विशतः प्राचीनशरीरसन्निवेशविनाशोऽपि प्राप्नुयात्। न च यथा प्रदीपप्रभाविशेषः प्रपाप्रासादाद्युदरवर्तिसंकोचविकाशवांस्तथा जीवोऽपि मनुजमतङ्गजादिशरीरेषु स्यादित्येषितव्यम्। प्रदीपवदेव सविकारत्वेनानित्यत्वप्राप्तौ कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्।

उसी प्रकार यदि आप यह स्वीकार करते हैं कि जीव शरीर (Body) के अनुरूप परिणाम धारण कर लेता है, तो योग के बल से योगी लोग एक साथ जो अनेक शरीर धारण करते हैं, उन शरीरों में प्रत्येक शरीर में जीव का टुकड़ा देखा जायगा। [वास्तव में जीव विभु है जिससे एक साथ अनेक शरीरों में रह सकता है। योगी लोग अपने योग की सामर्थ्य से एक ही बार में कई शरीरों में निवास कर सकते हैं। ऐसे शरीरों के समूह का नाम कायव्यूह है। विभु होने के कारण उन-उन शरीरों में जीव का निवास संभव है। किन्तु यदि यह

मानें कि जीव शरीर के अनुरूप परिमाण धारण करता है, तब तो कठिनाई होगी कि शरीर से बाहर उसका सम्बन्ध नहीं रहेगा। एक शरीर में जीव का एक टुकड़ा, दूसरे में दूसरा टुकड़ा—इस तरह जीव के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे।]

[दूसरा दोष यह होगा कि] मनुष्य के शरीर का परिमाण रखनेवाला जीव [पुनर्जन्म होने पर, योनि बदलने से] हाथी के पूरे शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता। (किसी एक ही अंश में मानव शरीर खप जायगा, शेषांश के लिए क्या जवाब होगा ?) यही नहीं, जब जीव गजादि के बड़े शरीर को छोड़ कर चींटी के छोटे शरीर में प्रवेश करने लगेगा तब [वह छोटे परिमाण में हो कर पुनः] अपने पहले शरीर (हाथी आदि के शरीर) में प्रवेश करने की क्षमता खो बैठेगा। [चूँकि गज देह के परिमाण में जीव चींटी के शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता, इसलिए उसे अपने प्राचीन शरीर के परिमाण (आकार) का विनाश करना ही होगा—अतः वह पुराने शरीर में फिर लौट नहीं सकता; त्यागपत्र स्वीकार हो जाने पर फिर पुराने पद पर लौटना कैसा ?]

ऐसी भी कल्पना नहीं हो सकती कि जैसे प्रदीप की प्रभा (किरणों) के अवयव (विशेष Particulars), पनसाला-जैसी छोटी जगह या महल-जैसी बड़ी जगह में, अपने आधार के अनुसार संकुचित (सिकुड़ते) या विकसित (फैलते) हैं, उसी प्रकार जीव भी मनुष्य और हाथी की देहों में आकर [संकोच और विकास प्राप्त] करता होगा। ऐसा करना इसलिए ठीक नहीं कि प्रदीप की तरह ही जीव को सविकार मानना पड़ेगा [जिसमें संकोच और विकास-रूपी विकार (Changes) होते हैं], फलतः जीव अनित्य हो जायगा और [बौद्धों के क्षणिकवाद पर आपके ही द्वारा आरोपित] 'किये कर्म का नाश' तथा 'न किये गये कर्म के फल की प्राप्ति'—ये दो दोष आ पहुँचेंगे।

विशेष—विकार से युक्त वस्तुएँ अनित्य होती हैं क्योंकि संकोच और विकास का सम्बन्ध उत्पत्ति और विनाश से है—कभी-न-कभी जीव की उत्पत्ति और विनाश होगा ही। जब उत्पत्ति मानेंगे तो न किये गये कर्म के फल की प्राप्ति होगी। उत्पत्ति के बाद उसे सुख-दुःख रूपी फल मिलेंगे, जिसके कारण पुण्य-पाप हैं; जब जीव उत्पन्न ही नहीं हुआ था तब उसने इन फलों के कारण-रूप कर्म ही कैसे किये थे ? कोई भी व्यक्ति उत्पत्ति के बाद कर्म करने पर ही फल पाता है लेकिन जीव बिना कर्म के ही फल पाने लगेगा। उसी प्रकार जब जीव का विनाश होगा तब किये गये कर्म का भी नाश होगा। विनाश के बाद भोक्ता ही नहीं रहेगा तब फल कौन भोगेगा ? विनाश के समय किये गये कर्म का फल भी नष्ट हो जायगा—इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है। अतः 'कृतप्रणाश' दोष की प्राप्ति होगी।

एवं प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेन जीवपदार्थदूषणाभिधानदिशाऽन्यत्रापि दूषणमुत्प्रेक्षणीयम् । तस्मान्नित्यनिर्दोषश्रुतिविरुद्धत्वादिदमुपादेयं न भवति । तदुक्तं भगवता व्यासेन—नैकस्मिन्नसंभवात् (ब्र० सू० २।२।३१) इति । रामानुजेन च जैनमतनिराकरणपरत्वेन तदिदं सूत्रं व्याकारि ।

इस प्रकार प्रधान-मल्ल को शान्त करने की तरह[1] जीव-पदार्थ में दोष दिखाकर संकेत किया गया है कि अन्य पदार्थों में भी दोष की कल्पना कर लें । इसलिए नित्य (Eternal) और निर्दोष (Infallible) श्रुति (वेदों) के विरुद्ध होने के कारण यह जैन-मत ग्राह्य नहीं है । भगवान् व्यास ने भी [ब्रह्मसूत्र में] कहा है—[जैन-मत ठीक] नहीं, क्योंकि एक ही (वस्तु) में [छाया और धूप के समान 'नास्ति' और 'अस्ति'—जैसे विरुद्ध धर्मों का आरोपण करता है जो] असंभव है (ब्र० सू० २।२।३१) । रामानुज ने इस सूत्र की व्याख्या जैन-मत का निराकरण करते हुए ही की है ।

विशेष—जीवस्वरूप का खण्डन करके संकेत किया गया है कि वेदाप्रामाण्य, ईश्वरास्वीकार आदि पदार्थों का भी खण्डन कर लें । यदि वेद प्रमाण नहीं हैं तो जैनों के सिद्धान्त के अनुसार अर्हन्मुनि के द्वारा प्रणीत (उत्पन्न किया गया) आगम भी प्रमाण नहीं हो सकता । वेद अपौरुषेय हैं इसलिए पुरुषों में पाई जानेवाली स्वच्छन्दता वहाँ नहीं है । जब स्वच्छन्दता नहीं, तो कोई दोष कैसे आयेगा ? अतः सारे दोषों से रहित वेद स्वतः ही प्रमाण है—उसकी प्रामाणिकता कोई नहीं मिटा सकता । उसके बाद ईश्वर भी श्रुति के प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तै० उ० ३।१।१); द्यावाभूमी जनयन्देव एकः (श्वे० उ० ३।३) । 'नैकस्मिन्नसंभवात्' सूत्र की व्याख्या सभी वेदान्तियों ने जैन-मत के खण्डन के रूप में ही की है । विशेष ज्ञान के लिए वह स्थल देखना चाहिए ।

(४. रामानुज-दर्शन के तीन पदार्थ)

एष हि तस्य सिद्धान्तः—चिदचिदीश्वरभेदेन भोक्तृ-भोग्य-नियामकभेदेन च व्यवस्थितास्त्रयः पदार्था इति । तदुक्तम्—

---

१. प्रधानमल्लनिबर्हणन्याय—जिस प्रकार मुख्य पहलवान को पछाड़ देने पर दूसरे पहलवान मल्ल-युद्ध करने से विरत हो जाते हैं वैसे ही जैनों के द्वारा स्वीकृत जीवस्वरूप को दूषित कर देने पर अन्य सिद्धान्तों और पदार्थों का खण्डन स्वयमेव हो जाता है ।

१. ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः।
ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित्पुनः ॥ इति ।

उस (रामानुज) दर्शन का यही सिद्धान्त है—चित् (Soul) अचित् (Universe) और ईश्वर (God) के भेद से, जो क्रमशः भोक्ता (Enjoyer, subject), भोग्य (Object) और नियामक (Controller) हैं तीन प्रकार के निश्चित पदार्थ हैं। ऐसा ही कहा है—'ईश्वर, चित् और अचित् के रूप में पदार्थों की संख्या तीन है; हरि (विष्णु) ही ईश्वर है, चित् से जीव का अभिप्राय है और दृश्यमान जगत् (Appearance) अचित् है।'

(५. अद्वैत-वेदान्त का इस विषय में पूर्वपक्ष)

अपरे पुनरशेषविशेषप्रत्यनीकं चिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः। तच्च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमपि 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६।८।७) इत्यादिसामानाधिकरण्याधिगतजीवैक्यं बध्यते मुच्यते च।

तदतिरिक्तनानाविधभोक्तृभोक्तव्यादिभेदप्रपञ्चः सर्वोऽपि तस्मिन्नविद्यया परिकल्पितः, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० उ० ६।२।१) इत्यादिवचननिचयप्रामाण्यात्—इति ब्रुवाणाः, 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० उ० ७।१।३) इत्यादिश्रुतिशिरःशतवशेन निर्विशेषब्रह्मात्मैकत्वविद्ययाऽनाद्यविद्यानिवृत्तिमङ्गीकुर्वाणाः, 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (काठ० उ० २।१) इति भेदनिन्दाश्रवणेन पारमार्थिकं भेदं निराचक्षाणाः, विचक्षणम्मन्याः तमिमं विभागं न सहन्ते।

कुछ लोग (शाङ्कर वेदान्ती), जो अपने को बड़े बुद्धिमान् मानते हैं (विचक्षणम्मन्याः), इस विभाजन को नहीं मानते (इससे सहमत नहीं हैं) [मायावादी थोड़ा भी द्वैत नहीं सहन कर सकते।] [उनकी मान्यता है कि] चित् के रूप में (स्वयं प्रकाशित होनेवाले ज्ञानमात्र के स्वरूप में) केवल ब्रह्म ही परमार्थ (Ultimate reality) है जिसमें सारे (अशेष) विशेषण

(जैसे—ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, शब्द, स्पर्श, ज्ञातृत्व, नित्यत्व आदि सभी व्यावहारिक विशेषण जो किसी पदार्थ की सीमा स्थिर करते हैं कि यह इस तरह का है) शत्रु के रूप में हैं (= कोई भी विशेषण ईश्वर में नहीं लग सकता)। उस ब्रह्म का स्वभाव (Essence) ही नित्य (Eternal), शुद्ध (Pure), बुद्ध (Intelligent) तथा मुक्त (Free) रहना है, फिर भी 'तत्त्वमसि' (वह तुम्हीं हो) की तरह के वाक्यों से ज्ञात होनेवाले सामानाधिकरण्य (जीव और ब्रह्म का एक होना, समानाधिकरण = एक आधार, Identity) से उसकी एकता जीव के साथ सिद्ध होती है, और इसीलिए वह बन्धन में भी पड़ता है और मुक्त भी होता है। ['तत्त्वमसि' का अर्थ है—वह (ब्रह्म) तुम (जीव) हो अर्थात् ब्रह्म ही जीव है। यद्यपि ब्रह्म मुक्त है किन्तु उपर्युक्त वाक्य में दोनों की एकता होने के कारण जीव के रूप में ब्रह्म बन्धन में पड़ता है। जब जीव और ब्रह्म के ऐक्य का साक्षात्कार हो जाता है तब वह ब्रह्म मुक्त हो जाता है।]

उस (ब्रह्म) के अतिरिक्त, भोक्ता (जीव), भोग्य (जगत्) आदि के भेदों के रूप में नाना प्रकार के प्रपंच (विस्तार, Universe of diversities) उस ब्रह्म में ही कल्पित किये जाते हैं—ये सारे-के-सारे अविद्या (Illusion, ignorance) से परिचालित होते हैं। इसके लिए कितने ही वाक्य प्रमाण के रूप में हैं जैसे—'हे सोम्य (प्रसन्नमुख शिष्य), सबसे पहले यह सत् (Existent) ही उत्पन्न हुआ था, जो अकेला था, दूसरा कुछ नहीं था'; इस प्रकार की बातें ये (माया वेदान्ती) लोग करते हैं। [अद्वितीय मानने से ब्रह्म निर्विशेष मालूम पड़ता है, उसमें कोई विशेषण नहीं लग सकता। यदि विशेषण लग सकते तो वे ही विशेषण लगकर दूसरे ब्रह्म भी हो सकते। जब तक सूत्र (Formula) नहीं मालूम है तब तक एक ही कलाकृति है; जिस क्षण कृति के विशेष या सूत्र ज्ञात हो जायेंगे उसी क्षण दूसरी कृति निर्मित हो जायगी।]

'आत्मा को जाननेवाला शोक को पार कर जाता है' (छा० उ० ७।१।३) इस तरह के सैकड़ों वेदवाक्यों के सिर पर सवार होकर (Taking advantage of), निर्विशेष ब्रह्म और आत्मा के एकत्व (Identity) के ज्ञान से (आत्मा के शुद्ध रूप का साक्षात्कार करके), अनादि काल से चली आनेवाली अविद्या (माया, भ्रम) की निवृत्ति हो जाती है—ऐसा वे स्वीकार करते हैं। 'जो व्यक्ति इस (ब्रह्म) को नाना प्रकार के रूप में देखता है वह मृत्यु के बाद भी पुनः मृत्यु (जन्मान्तर में) पाता है' (का० उ० २।१) यहाँ [जीव

और ब्रह्म में] भेद माननेवाले की निन्दा सुनकर दोनों के बीच ये (मायावेदान्ती) तात्त्विक भेद नहीं मानते।

(५. क. रामानुज का उत्तर-पक्ष, अद्वैतियों की अविद्या का पूर्वपक्ष)

तत्रायं समाधिरभिधीयते। भवेदेतदेवं यद्यविद्यायां प्रमाणं विद्येत। नन्विदमनादि भावरूपं ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम् 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि' इति प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धम्। तदुक्तम्—

२. अनादि भावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते॥
(चित्सुखी १।९) इति।

इन सभी शंकाओं का समाधान इस प्रकार है—[शांकरवेदान्तियों का] कथन ठीक माना जाता, यदि अविद्या को मानने के लिए प्रमाण रहते। [अविद्या को माननेवाले यह कह सकते हैं कि] यह अज्ञान अनादि और भावात्मक (Positive) है, तथा ज्ञान से हट जाता है; प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही यह सिद्ध है (जैसा कि हम ऐसे वाक्यों में पाते हैं—) 'मैं अज्ञानी हूँ अपने आप को या किसी दूसरे को भी नहीं जानता हूँ।' ऐसा ही कहा भी है—'जो अनादि है, भावात्मक है, विज्ञान (Knowledge) से जिसका नाश होता है, वही अज्ञान है—विशेषज्ञ लोग इसका लक्षण इसी प्रकार करते हैं।' (चित्सुखी १।९)

विशेष—चित्सुखाचार्य (१२२५ ई०) के द्वारा लिखित चित्सुखी या प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका शांकरदर्शन का एक बहुमान्य ग्रंथ है। इसकी टीका प्रत्यक्स्वरूप ने प्रायः १५०० ई० में मानसनयनप्रसादिनी के नाम से की थी। सर्वदर्शन संग्रह (१३५० ई०) में चित्सुखी का उद्धरण उसकी कीर्ति का सूचक है।

न चैतज्ज्ञानाभावविषयमित्याशङ्कनीयम्। को ह्येवं ब्रूयात्प्रभाकरकरावलम्बी भट्टदत्तहस्तो वा? नाद्यः—

३. स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते किंचित्कैश्चिद्रूपं कदाचन॥
४. भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया।
भावान्तरादभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्॥

इति वदता भावव्यतिरिक्तस्याभावस्यानभ्युपगमात्।

[अज्ञान के विषय में उपर्युक्त प्रत्यक्ष, मायावादियों के दृष्टिकोण से भावरूप (Positive) अज्ञान का विषय है इसलिए उनके अनुसार ही यह कहा जाता है] 'यह (प्रत्यक्ष) ज्ञान के अभाव का विषय है'—ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए। (इस प्रत्यक्ष को ज्ञान के अभाव का विषय) माननेवाले कौन हैं ? या तो प्रभाकर गुरु[1] (मीमांसा के एक संप्रदाय के प्रवर्तक) का वरद कर पानेवाले (= गुरु-मतानुयायी) या कुमारिलभट्ट का सहारा पानेवाले (भाट्ट-मीमांसक) ऐसा कहेंगे।

गुरुमतवाले तो ऐसा (अज्ञान को भावरूप न मान कर, ज्ञानाभाव का विषय मानना) मान ही नहीं सकते। उन्हीं का कथन है—'अपने रूप (सत् के रूप में) तथा दूसरे के रूप (असत् के रूप में) की सहायता से, नित्य-रूप से, सत् और असत् दोनों में विद्यमान वस्तु में, कोई व्यक्ति, एक समय में, किसी एक ही रूप को जान सकता है'। [वस्तुओं में सदा दो रूप होते हैं, स्वकीय रूप से वस्तु सदात्मक है और परकीय रूप से वह असदात्मक है। कभी वस्तु को हम सत् के रूप में (Existent) जानते हैं, कभी असत् के रूप में। जब सत् के रूप में कोई गुण जाना जाता है, उस समय उससे भिन्न या परकीय गुण असत् रहेंगे ही। आम के फल में रूप, रस आदि सभी हैं—कभी रूप को जानते हैं उस समय रस का ज्ञान नहीं, इत्यादि। अतः सत् रूप में ज्ञान के समय भी असत् रहता है, असत् के ज्ञान के समय में भी सत् है; परन्तु यह प्रकृति का नियम है कि व्यक्ति एक समय में किसी एक को ही जान सकता है यद्यपि दूसरा रूप भी दूसरे समय में यथावत् जाना जा सकता है। अतः सत् और असत् में कोई अन्तर नहीं।]

---

१. प्रभाकर को गुरु उपाधि मिलने के विषय में एक दन्तकथा है। एक बार इनके अध्यापक एक ग्रंथ में यह पढ़ कर परेशान थे—अत्र तुनोक्तं, तत्रापिनोक्तम्। परेशानी का कारण यह था कि दोनों स्थानों पर पदार्थ का कथन किया गया था जब कि ये पंक्तियाँ ठीक उलटी बातें सूचित कर रही थीं। गुरु की परेशानी से प्रभाकर की बुद्धि जाग उठी और उन्होंने इन पंक्तियों को इस रूप में पढ़ा—अत्र तुना उक्तम् (यहाँ 'तु' शब्द के द्वारा उल्लेख है), तत्र अपिना उक्तम् (वहाँ 'अपि' शब्द से उल्लेख है)। स्मरणीय है कि पहले के ग्रंथों में अक्षर सटा-सटा कर लिखे जाते थे, इसीलिए इस तरह की कठिनाई अध्यापक को हुई। गुरु ने कहा कि प्रभाकर, आज से तुम्हीं गुरु हो। यही कारण था कि प्रभाकर गुरु कहलाये। इन्होंने शबरभाष्य पर टीका लिख कर अपना अलग संप्रदाय चलाया।

'अभाव एक प्रकार का दूसरा भाव (Entity) है जो किसी-न-किसी व्यपेक्षा (सम्बन्ध, असत् के निरूपण की इच्छा) से प्रकट किया जाता है। एक अन्य भाव (भाव का विशेष भेद) के अतिरिक्त अभाव नामक कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि उसका निरूपण नहीं हो सकता।' [पृथ्वी में घट का अत्यन्ताभाव पृथ्वी का स्वरूप मात्र है (Positive), घट का प्रागभाव मिट्टी है, ध्वंसाभाव खपड़ा है, अन्योन्याभाव पटादि है—इस प्रकार घट के चारों अभाव (अत्यन्ताभाव, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव; और अन्योन्याभाव) किसी न किसी भाव (Positive entity) के ही रूप में हैं, अतः अभाव भाव ही का दूसरा नाम है जो असत् पदार्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है।]—यह कह कर प्रभाकर के मतानुयायी भाव के अतिरिक्त अभाव पदार्थ को स्वीकार ही नहीं करते [कि अज्ञान को ज्ञानाभावविषयक मानें।]

विशेष—यहाँ पर शांकर वेदान्त द्वारा पूर्वपक्ष की स्थापना हो रही है। तथ्य यही है कि शङ्कर अज्ञान को भावरूप मानते हैं, इसके लिए मीमांसकों से भी वे यह स्वीकार करवा लेते हैं कि अभाव भावरूप है अर्थात् अज्ञान = ज्ञानाभाव = ज्ञानभाव = भावरूप (Positive ignorance)। अपने अज्ञान को ज्ञानाभाव कहना वे किसी मूल्य पर भी स्वीकार नहीं करते। यही अज्ञान सारे मायाजाल की सृष्टि करता है, यदि ज्ञानाभाव इसे मान लेंगे तो इसकी विश्वसृजन-शक्ति विनष्ट हो जायगी। रामानुज आगे चल कर इस अज्ञान या माया का खण्डन करेंगे। उपर्युक्त पद्यों में प्रभाकर का उद्धरण देकर उनसे अज्ञान को प्रकारान्त से भावात्मक स्वीकार कराया जा रहा है। प्रभाकर भाव का ही एक दूसरा रूप अभाव मानते हैं, उससे पृथक् नहीं। तो एक तरह से उन्होंने शङ्कर की स्थिति ही स्वीकार कर ली।

न द्वितीयः। अभावस्य षष्ठप्रमाणगोचरत्वेन ज्ञानस्य नित्यानुमेयत्वेन च तदभावस्य प्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्तेः। यदि पुनः प्रत्यक्षाभाववादी कश्चिदेवमाचक्षीत, तं प्रत्याचक्षीत—अहमज्ञ इत्यस्मिन्ननुभवेऽहमित्यात्मनोऽभावधर्मितया ज्ञानस्य प्रतियोगितया चावगतिरस्ति न वा? अस्ति चेत्, विरोधादेव न ज्ञानानुभवः। न चेत्, धर्मिप्रतियोगिज्ञानसापेक्षो ज्ञानाभावानुभवः सुतरां न संभवति। तस्याज्ञानस्य भावरूपत्वे प्रागुक्त-

दूषणाभावात् अयमनुभवो भावरूपाज्ञानगोचर एवाभ्युपगन्तव्य इति ।

दूसरी ओर, भाट्ट-मीमांसक भी ऐसा नहीं कह सकते। अभाव का ज्ञान उनके अनुसार छठे प्रमाण (अनुपलब्धि) से होता है (प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं), तथा ज्ञान भी सदा ही अनुमेय रहता है अतः इसका अभाव (= ज्ञानाभाव) भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। [यद्यपि अभाव को भाट्ट लोग एक पृथक् पदार्थ स्वीकार करते हैं फिर भी 'मैं नहीं जानता' इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञानाभाव का विषय नहीं। ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने पर ही उसका अभाव प्रत्यक्ष का विषय हो सकता है, पर भाट्ट लोग ज्ञान को प्रत्यक्ष न मान कर अनुमेय मानते हैं। नैयायिकों का यह कथन है कि 'मैं जानता हूँ' यह वाक्य अनुव्यवसायात्मक मान्तर प्रत्यक्ष से निष्पन्न होता है इसलिए ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है, परन्तु यह ठीक नहीं। इस प्रकार का ज्ञान दूसरे अनुव्यवसायात्मक ज्ञान की अपेक्षा रखता है, वह भी तीसरे की अपेक्षा करेगा—इस तरह अनवस्था नाम का दोष उत्पन्न हो जायगा। इसलिए ज्ञान को भाट्टमतानुसार स्वप्रकाशक (दीप की तरह) मानना ही उपयुक्त है। एक दीप दूसरे दीप से प्रकाशित नहीं होता, अपना प्रकाशन आप ही करता है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान इनके अनुसार अतीन्द्रिय है। प्रत्यक्ष के योग्य पदार्थों का अभाव भले ही प्रत्यक्ष हो, लेकिन प्रत्यक्ष से ग्रहण न करने योग्य पदार्थों (जैसे, ज्ञान) का अभाव भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं। फलित यह हुआ कि 'मैं अज्ञ हूँ' यह प्रत्यक्ष ज्ञानाभाव का विषय नहीं, भावरूप अज्ञान का ही विषय मानना पड़ेगा। ज्ञानाभाव प्रत्यक्ष नहीं है—प्रत्यक्ष ज्ञानाभाव नहीं है (Simple conversion)।]

अब यदि अभाव को प्रत्यक्ष (अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्तर्भूत) माननेवाला व्यक्ति ऐसी बात कहे तो उससे पूछना चाहिए—'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभव में, अभाव-धर्म के रूप में या ज्ञान के प्रतियोगी (विरोधी = नहीं जानना) के रूप में, आत्मा ('अहम्' शब्द से प्रतीत होनेवाली) की अवगति (ज्ञान Apprehension) होती है या नहीं ? यदि ऐसी अवस्था में आत्मा का बोध होता है, तो विरोध के ही कारण ज्ञान के अभाव का अनुभव नहीं होगा। यदि नहीं होता तो ज्ञान के अभाव का अनुभव और नहीं होगा क्योंकि कोई भी अभाव तभी जाना जा सकता है जब अभाव के धर्मों से युक्त (उसके आधार का) उसके विरोधी (भाव) का ज्ञान हो। [नैयायिकादि अभाव को प्रत्यक्ष ही मानते हैं। उपर्युक्त अनवस्था इसलिए नहीं लगती कि अन्तिम अनुव्यवसाय स्वयम् अज्ञात होकर भी वस्तु की सत्ता से ही अपने पहले के

अनुव्यवसाय का ग्रहण कर लेगा। ज्ञान दो तरह के हैं—परगत और स्वगत। पूरा का पूरा परगत ज्ञान तथा निर्विकल्पक स्वगत ज्ञान अतीन्द्रिय है। स्वगत सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है इसलिए इनके मतानुसार 'अहमज्ञः' यह प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञानाभाव का विषय है—ऐसा कह सकते हैं। इस सम्प्रदाय से अद्वैतवेदान्ती पूछते हैं कि 'मैं अज्ञ हूँ (मैं ज्ञानाभाव सम्पन्न हूँ)' इस अनुभव में ज्ञानाभाव को आधार मानने के कारण 'अहम्' अर्थ वाली आत्मा का ज्ञान होता है कि नहीं? उसी अनुभव में ज्ञानाभाव का विरोधी होने के कारण ज्ञान का ज्ञान होता है कि नहीं? यदि है तो ज्ञान की सत्ता माननी पड़ेगी; ज्ञानाभाव कहाँ है और कहाँ है उसका अनुभव? यदि नहीं है तो ज्ञानाभाव रहने पर भी इसका अनुभव नहीं होगा क्योंकि अभाव का ज्ञान तभी सम्भव है जब अभाव के आधार का ज्ञान हो, अभाव के प्रतियोगी का ज्ञान हो। घट का बिना ज्ञान हुए घटाभाव जानना असम्भव है।]

अब यदि उस अज्ञान को भावरूप (positive) स्वीकार कर लें, तो उपर्युक्त दोषों से मुक्ति मिल जाती है। अतएव यह अनुभव भावरूप अज्ञान से ही उत्पन्न होता है—ऐसा मानना चाहिये। (इस प्रकार मायावादियों का पूर्वपक्ष समाप्त हुआ।)

(६. रामानुज द्वारा इसका खण्डन)

तदेतद्गगनरोमन्थायितम्। भावरूपस्याज्ञानस्य ज्ञानाभावेन समानयोगक्षेमत्वात्। तथाहि—विषयत्वेनाश्रयत्वेन चाज्ञानस्य व्यावर्तकतया प्रत्यगर्थः प्रतिपन्नो न वा? प्रतिपन्नश्चेत्, स्वरूपज्ञाननिवर्त्यं तदज्ञानमिति तस्मिन्प्रतिपन्ने कथंकारमवतिष्ठते? अप्रतिपन्नश्चेत्, व्यावर्तकाश्रयविषयशून्यमज्ञानं कथमनुभूयेत?

[मायावादियों के द्वारा अज्ञान को भावरूप मानने के लिए तर्क देना ठीक वैसा ही असम्भव है जैसा कोई पशु] आकाश का पागुर (जुगाली, चर्वितचर्वण, regrazitating) करे! भाव के रूप में अज्ञान को मानना ज्ञानाभाव के रूप में मानने के ही बराबर है। इसमें दो विकल्प हो सकते हैं—[अज्ञान के] विषय (आत्मा के स्वरूप का ज्ञान) तथा आश्रय (= आत्मा) के रूप में, अज्ञान की व्यावर्तक बनकर, उस ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रतीति होती है कि नहीं? ('मैं अज्ञ हूँ' इस अज्ञान की प्रतीति के समय उस ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रतीति होती है कि नहीं?) यदि प्रतीति होती है तो 'स्वरूप के ज्ञान से निवृत्त होने वाला (ज्ञान का विरोधी) वह अज्ञान है'—इसलिए उस (ज्ञान)

की प्रतीति होने पर ज्ञान किसी प्रकार नहीं रह सकता। [चूँकि अज्ञान आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जान जाने पर हट जाता है इसलिये स्वरूप के ज्ञान के बाद अज्ञान ठहरेगा ही नहीं। 'अहमज्ञः' में अज्ञान की प्रतीति के समय ज्ञान यदि रहे तो अज्ञान की प्रतीति कैसे हो सकेगी, अज्ञान कहाँ से रहेगा ?] दूसरी ओर यदि आत्मा की प्रतीति नहीं होती, तो व्यावर्तक (अज्ञान का व्यावर्तक है आत्मा, प्रतीति, बोध), आश्रय तथा विषय से शून्य होने से अज्ञान का अनुभव ही कैसे होगा ?

विशेष—अज्ञान (मैं अज्ञ हूँ) का विषय (Object) आत्मा के स्वरूप का ज्ञान ही है; उसका आश्रय (Substratum, object) है आत्मा, क्योंकि आत्मा को प्रत्यक्ष रूप में यह अनुभव होता है कि मैं नहीं जानता हूँ। आत्मा ही अज्ञान का व्यावर्तक (रोकने वाला, प्रतिषेधक) है। यहाँ शांकरवेदान्तियों का यह दोष दिखलाया जा रहा है कि व्यावर्तक को ही वे अज्ञान का विषय और आश्रय दोनों मान लेते हैं।

अथ विशदः स्वरूपावभास एवाज्ञानविरोधी, नाज्ञानेन सह भासत इत्याश्रयविषयज्ञाने सत्यपि नाज्ञानानुभवविरोध इति—हन्त, तर्हि ज्ञानाभावेऽपि समानमेतदन्यत्राभिनिवेशात्। तस्मादुभयाभ्युपगतज्ञानाभाव एव 'अहमज्ञो, मामन्यं च न जानामि' इत्यनुभवगोचर इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

(मायावादी यह कह सकते हैं कि) आत्मा (स्वरूप) की जो प्रतीति (अवभास) स्फुट (manifested) है वही अज्ञान (माया) का विरोध करती है। वह (विशद आत्मप्रतीति) अज्ञान के साथ नहीं रह सकती। इस प्रकार [अज्ञान के] आश्रय और विषय के होने पर [आत्मा की प्रतीति स्फुट न होने से] उसका विरोध अज्ञान (अहमज्ञः) के अनुभव के साथ नहीं होता (तात्पर्य यही है कि अविशद आत्मप्रतीति अज्ञान का व्यावर्तक नहीं है, विशद से ही ऐसी आशा की जाय)। रामानुज उत्तर में कहते हैं कि हाय, हाय, तब तो [जो बात भावरूप अज्ञान मानकर आप कह रहे हैं] वही बात ज्ञानाभाव का विषय मानने पर होगी (कि आधार और विरोधी—इन दोनों में विशद स्वरूपावभास या आत्मप्रतीति विरोधी हो सकेगी, अविशद स्वरूपावभास नहीं।) हाँ, यदि आप पक्षपात (अभिनिवेश) न करें तभी ऐसा कहेंगे। [मायावादी लोग भावरूप अज्ञान मानने में जो पक्षपात करते हैं वह हम लोगों में नहीं है। इस प्रकार दोनों पक्षों (हमारे और आपके) से सिद्ध ज्ञानाभाव ही—'मैं अज्ञ हूँ,

अपने आपको और दूसरे को भी नहीं जानता' इस वाक्य में अनुभूत होता है (is experienced) —ऐसा मानना चाहिए।

विशेष—रामानुज अपने तर्क के बल से अद्वैतियों को 'अज्ञान भावरूप नहीं, ज्ञानाभाव का विषय है' ऐसा स्वीकार कराते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि अज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से बोध्य नहीं। अब अनुमान के अखाड़े में ले जाकर अज्ञान को पछाड़ने की युक्ति रची जा रही है। रामानुज ने अपने ब्र० सू० भाष्य के प्रथम सूत्र में अज्ञान का खण्डन बड़े जोरदार शब्दों में किया है। उसी से विषय-वस्तु लेकर प्रस्तुत स्थल में प्रतिपादन किया जा रहा है।

(७. अज्ञान को भावरूप मानने में अनुमान और उसका खण्डन)

अस्तु तर्ह्यनुमानं मानं विवादास्पदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभाव-व्यतिरिक्त-स्वविषयावरणस्वनिवर्त्य-स्वदेशगत-वस्त्वन्तर-पूर्वकम् अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वादन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत् इति।

[शांकर वेदान्ती कह सकते हैं कि] प्रस्तुत विवाद से ग्रस्त ज्ञान (= अज्ञान भावरूप है) को अनुमान से सिद्ध क्यों नहीं मानते ? अनुमान इस प्रकार हो सकता है—

(१) [अविद्या को] प्रमाणित करने वाला ज्ञान (**पक्ष**) किसी दूसरी वस्तु के बाद में होता है, जो वस्तु ज्ञान के प्रागभाव से बिल्कुल भिन्न, ज्ञान के विषयों को ढँकनेवाली, ज्ञान के द्वारा हट जाने वाली, तथा जो ज्ञान के स्थान में अवस्थित रहती है (**साध्य**)।

(२) कारण यह है कि प्रमाण ज्ञान (Right Knowledge) अप्रकाशित वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है (**हेतु**)।

(३) जिस प्रकार अन्धकार में पहले-पहल उत्पन्न होने वाली दीप की प्रभा होती है (**उदाहरण**)।

विशेष—प्रथम वाक्य में 'वस्त्वन्तर' के कुछ विशेषण लगाये गये हैं। स्वविषयावरण = स्व अर्थात् प्रमाणज्ञान का विषय ब्रह्मादि है, उसके स्वरूप को ढँकनेवाला। स्वदेशगत = प्रमाणज्ञान का देश आत्मा है, उसी में अवस्थित रहनेवाला। स्वप्रागभावव्यतिरिक्त = प्रमाणज्ञान के प्रागभाव से पृथक्। उपर्युक्त विशेषणों से युक्त अज्ञान भावरूप ही सिद्ध होता है। जो दीप प्रथम-प्रथम प्रकाश की किरणें फैलाता है उसी में अंधकार को नष्ट करने की शक्ति होती है। जिस प्रकार अँधेरे में पहले-पहल जलाया गया दीपक अपनी प्रभा से अप्रकाशित वस्तुओं को प्रकाश में लाता है उसी प्रकार अँधेरे की तरह विद्यमान

किसी दूसरी वस्तु (अर्थात् अज्ञान) को हटाकर प्रमाणज्ञान भी अप्रकाशित वस्तु (आत्मस्वरूप) को प्रकाश में ले आता है। जो वस्तु हटाई जाती है वही अज्ञान है, यह भावरूप है जिसकी व्यावृत्ति ज्ञान द्वारा ही होती है।

तदपि न क्षोदक्षमम्। अज्ञानेऽप्यनभिमताज्ञानान्तरसाधनेऽपसिद्धान्तापातात्। तदसाधनेऽनैकान्तिकत्वात्। दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वाच्च। न हि प्रदीपप्रभाया अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वं संभवति। ज्ञानस्यैव प्रकाशकत्वात्। सत्यपि प्रदीपे ज्ञानेन विषयप्रकाशसंभवात्। प्रदीपप्रभायायस्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञानं समुत्पादयतो विरोधिसंतमसनिरसनद्वारेणोपकारकत्वमात्रमेवेत्यलमतिविस्तरेण।

[रामानुज का कहना है कि] उपर्युक्त उक्ति भी तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतर सकती (शब्दशः, चक्की में पिसने से बच नहीं सकती; क्षोद = चूर्ण)। कारण यह है कि [आप ज्ञान को एक दूसरी वस्तु—अज्ञान—के बाद सिद्ध करते हैं तो] यह अज्ञान भी [उसी हेतु से (अप्रकाशित प्रपञ्च को प्रकाशित करने के कारण)] एक दूसरे अज्ञान की अपेक्षा रखेगा जो सिद्ध करना आपको अभीष्ट नहीं क्योंकि ऐसा करने पर [दूसरे अज्ञान से प्रपञ्च का आवरण हो जाने पर संसार की ही संभावना मिट जायगी जो] आपके सिद्धान्त के भी विरुद्ध है। (अथवा इस दूसरे अज्ञान से आपके प्रस्तुत अनुमान का विषय—भाव रूप अज्ञान—का भी आवरण हो जायगा और संसार की सिद्धि नहीं हो सकेगी।)

यदि आप [भावरूप अज्ञान को या उसके साधक अनुमान को तथाकथित विशेषणों से युक्त किसी दूसरी वस्तु के पश्चात्] सिद्ध नहीं करेंगे तो हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारयुक्त) हो जायगा। [यहाँ हेतु है 'अप्रकाशितार्थ को प्रकाशित करने के कारण'। यह हेतु साध्य (Major term) के विरोधी स्थानों में भी रहता है इसलिये अनैकान्तिक = अनिश्चित है।] दूसरे, उपर्युक्त अनुमान में दृष्टान्त (साध्य को) सिद्ध करने की सामर्थ्य नहीं रखता है क्योंकि वस्तुतः दीपक की प्रभा अप्रकाशित वस्तु को प्रकाशित नहीं करती, ज्ञान ही किसी वस्तु का प्रकाशन कर सकता है। दीपक के रहने पर भी ज्ञान से ही विषयों का प्रकाशन सम्भव है। दर्शनेन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न करती है, उसी समय प्रदीप-प्रभा (सहायक के रूप में) प्रकाश के विरोधी निविड़ अन्धकार को दूर करके थोड़ा-सा उपकार ही भर करती है। अब अधिक विस्तार करना व्यर्थ है।

(७ क. उपर्युक्त अनुमान का प्रत्यनुमान)

प्रतिप्रयोगश्च विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानमात्रब्रह्माश्रितम्; अज्ञानत्वात्, शुक्तिकाद्यज्ञानवदिति। ननु शुक्तिकाद्यज्ञानस्याश्रयस्य प्रत्यगर्थस्य ज्ञानमात्रस्वभावत्वमेव इति चेत्, मैवं शङ्किष्ठाः। अनुभूतिर्हि स्वसद्भावेनैव कस्यचिद्वस्तुनो व्यवहारानुगुणत्वापादनस्वभावो ज्ञानावगतिसंविदाद्यपरनामा सकर्मकोऽनुभवितुरात्मनो धर्मविशेषः। अनुभवितुरात्मत्वमात्मवृत्तिगुणविशेषस्य ज्ञानत्वमित्याश्रयणात्।

इसका विरोधी अनुमान (Counter-position) इस प्रकार है— जिस अज्ञान के विषय में विवाद चल रहा है वह विशुद्ध ज्ञान के स्वरूप ब्रह्म में आश्रय नहीं ले सकता, क्योंकि वह अज्ञान है (जब कि ब्रह्म ज्ञान है)—जिस प्रकार शुक्ति (सीपी, Nacre) आदि के विषय में उत्पन्न अज्ञान [ज्ञाता पर आश्रित है न कि ज्ञान पर ही, क्योंकि जीव ही ज्ञाता है; उसी प्रकार मायावादियों का वह भावरूप अज्ञान ज्ञाता पर ही आश्रित है न कि ज्ञान पर। लेकिन मायावादी तो इस अज्ञान को ज्ञानरूप ब्रह्म पर आश्रित मानते हैं—यह उनका दोष है।]

[यदि कोई शंका करे कि] शुक्ति आदि के विषय में होने वाले अज्ञान (Illusion) का आश्रय स्वचेतन (आत्मा, प्रत्यक् अर्थ) है, उसका स्वभाव ही विशुद्ध ज्ञान है (फिर अज्ञान का आरोपण ज्ञानस्वरूप आत्मा पर कैसे करते हैं ? उत्तर में हम कहेंगे कि) अनुभव करना अनुभव करनेवाली आत्मा का एक धर्म है जो (धर्म) केवल अपनी सत्ता से, किसी वस्तु में व्यवहार की योग्यता (आनुगुण्य) उत्पन्न करने का स्वभाव रखता है; जिस (अनुभूति) के ज्ञान, अवगति, संविद् (बोध) आदि बहुत से नाम हैं तथा जो (धर्म) कर्म करनेवाला भी है। अनुभव करनेवाले को आत्मा और आत्मा की वृत्तियों (Actions) में स्थित एक गुण को ज्ञान कहते हैं।

ननु ज्ञानरूपस्यात्मनः कथं ज्ञानगुणकत्वमिति चेत्, तदसारम्। यथा हि मणिद्युमणिप्रभृति तेजोद्रव्यं प्रभावद्रूपेणावतिष्ठमानं प्रभारूपगुणाश्रयः। स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्तमानत्वेन रूपवत्त्वेन च प्रभा द्रव्यरूपापि तच्छेषत्वनिबन्धनगुणव्यवहारा। एवमयमात्मा स्वप्रकाशचिद्रूप एव चैतन्यगुणः।

यहाँ कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप (Essence) है, फिर ज्ञान उसका गुण कैसे होगा ? इस पर रामानुज का कथन है कि यह शंका ठीक नहीं। [रामानुज जीवात्मा और परमात्मा दोनों को ज्ञान-स्वरूप मानते हैं, फिर ज्ञान उनका गुण भी है, ऐसा स्वीकार करते हैं। यह उपन्यास (Establishment) आपत्तिजनक है क्योंकि स्वरूप गुण नहीं हो सकता। किन्तु जिस श्रुति-प्रमाण से आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हैं, उसी प्रमाण से आत्मा का गुण ज्ञान है, यह भी जानते हैं। स्वरूप गुण हो सकता है क्योंकि स्वरूपवाले ज्ञान से गुणवाले ज्ञान को पृथक् माना जाता है। इसमें दृष्टान्त भी है—] जिस प्रकार मणि, सूर्य इत्यादि तैजस (Luminary) पदार्थ स्वयं प्रभा से युक्त स्वरूप से अवस्थित हैं, किन्तु प्रभा रूपी **गुण** के आश्रय स्थान भी हैं (अर्थात् सूर्यादि तेज के स्वरूप में होकर भी तेज के एक प्रकार—प्रभा-गुण—से भरे हैं। स्वरूप ही गुण भी है)।

अपने आश्रय से पृथक् होकर भी रहने पर तथा उसमें रूप (Mode of things) होने के कारण द्रव्य के रूप में रहने पर भी, प्रभा (Light) को गुण के रूप में पुकारते हैं क्योंकि वह सूर्यादि के तेज का उपकारी होने का सौभाग्य रखती है। [गुण किसी वस्तु में व्याप्य अथवा अव्याप्य वृत्ति धारण करके रहता है। आकाश में शब्द उसके एकदेश में ही रहता है अतः अव्याप्य वृत्तिवाला है, घट में रूप चारों ओर से रहता है अतः व्याप्य वृत्तिवाला है। प्रभा नित्य रूप से सूर्य-सम्बद्ध है, फिर भी सूर्य के अतिरिक्त समुद्र, पर्वत, भूमि आदि में देखी जाती है—इसलिये वह गुण नहीं है। दूसरे, प्रभा में शुक्ल-रूप रहता है जिससे इसे द्रव्य मानना पड़ता है। गुण में गुण नहीं रह सकता, द्रव्य में गुण रहता है अतः प्रभा द्रव्य है। फिर प्रभा को गुण कैसे कहेंगे ? चूँकि सूर्यादि तेजों में यह निवास करती है, गुण भी द्रव्य में रहते हैं, गुणों के सादृश्य से प्रभा को गुण मानते हैं किन्तु यह व्यवहार गौण है, मुख्य रूप से तो प्रभा द्रव्य ही है।] ठीक इसी प्रकार, इस आत्मा का स्वरूप यद्यपि स्वयं प्रकाशित होनेवाला चैतन्य है, इसका गुण भी चैतन्य ही है (जो गौण प्रयोग से माना जाता है)।

विशेष—जिस प्रकार प्रभा मुख्यतः द्रव्य है, गौणरूप से उसे गुण मानते हैं; उसी प्रकार ज्ञान भी मुख्यतः द्रव्य (आत्मा का स्वरूप है), गौणरूप से ही उसे गुण के रूप में समझते हैं क्योंकि आत्मा के रूप में दूसरे द्रव्यों से सम्बद्ध होकर गुण के ही समान हो जाता है। अब श्रुति-प्रमाण से सिद्ध करते हैं कि आत्मा का स्वरूप भी ज्ञान है और गुण भी ज्ञान ही है।

तथा च श्रुतिः—स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव (बृ० उ० ४।५।१३)। अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति (बृ० उ० ४।३।९)। न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते (बृ० उ० ४।३।३०)। अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा (छा० ८।१२।४)। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः (बृ० उ० ४।३।७)। एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः (प्रश्नो० ४।९) इत्यादिका।

इसके लिए श्रुति-प्रमाण भी है—जैसे नमक का टुकड़ा अन्तर-बाह्य का भेद बिना किये ही (सर्वत्र) रस का ही खण्ड है, उसी प्रकार यह आत्मा भी अन्तर-बाह्य के विभाजन से शून्य होकर (सर्वत्र) प्रज्ञान का ही खण्ड है (इसमें आत्मा को ज्ञानस्वरूप बतलाया गया है; बृ० उ० ४।५।१३)। यहाँ (स्वप्नावस्था में) यह पुरुष (आत्मा) स्वयंप्रकाशित होता है (वही, ४।३।९)। विज्ञाता (आत्मा) के ज्ञान (गुणरूप में वर्तमान ज्ञान) का विनाश नहीं होता है (वही, ४।३।३०)। जो यह समझे कि मैं इसे सूँघ रहा हूँ, वही आत्मा है (ज्ञान उसका गुण है; छा० ८।१२।४)। यह पुरुष जो विज्ञान से युक्त इन्द्रियों और हृदय में भी है, वह अपने आप में प्रकाशित है (प्रथम खण्ड में ज्ञान गुण है, फिर ज्ञान आत्मस्वरूप है—बृ० ४।३।७)। वह पुरुष ही देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला, समझनेवाला, करनेवाला (सब जगह ज्ञान गुण है) तथा विज्ञानस्वरूप आत्मा है (प्र० ४।९) इत्यादि।

विशेष—इस प्रकार कुछ श्रुतियों में आत्मा को ज्ञानस्वरूप कुछ में ज्ञान-गुणक तथा कुछ में ज्ञानस्वरूप और ज्ञानगुणक दोनों माना गया है। आत्मा केवल ज्ञाता ज्ञानगुणक) है, यह कहनेवाले नैयायिक लोग भी परास्त हुए; आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, कहनेवाले मायावेदान्ती भी गये।

(८. भावरूप अज्ञान मानने में श्रुति प्रमाण नहीं है)

न च 'अनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छा० ८।३।२) इति श्रुतिरविद्यायां प्रमाणमित्याश्रयितुं शक्यम्। ऋतेतरविषयो ह्यनृतशब्दः।

ऋतशब्दश्च कर्मवचनः। 'ऋतं पिबन्तौ' (का० ३।१) इति वचनात्। ऋतं कर्म फलाभिसन्धिरहितं, परमपुरुषाराधनवेषं तत्प्राप्तिफलम्। अत्र तद्व्यतिरिक्तं सांसारिकाल्पफलं कर्मानृतं ब्रह्मप्राप्तिविरोधि। 'य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छा० ८।३।२) इति वचनात्।

'अनृत (असत्य) से ढँके हुए' (छा० ८।३।२)[1]—यह श्रुतिवाक्य अविद्या के विषय में प्रमाण (Authority) है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'अनृत' का अर्थ है 'जो ऋत (सत्य) से भिन्न हो। 'ऋत' का अर्थ है (पुण्य) कर्म, क्योंकि इस वाक्य में—'ऋत को पीते हुए' कहा गया है [जिसका अर्थ है कि वे दोनों कर्म के फलों का अनुभव कर रहे हैं।] ऋत का अर्थ है फल की कामना न रखते हुए किया गया कर्म; परम पुरुष (ब्रह्म) की आराधना के रूप में उसकी प्राप्ति का फल मिलता है। यहाँ पर उससे भिन्न, सांसारिक तथा थोड़ा फल देनेवाला कर्म ही अनृत कहा गया है जो ब्रह्म की प्राप्ति का विरोधी है। ऐसा ही श्रुतिवचन भी है—जो इस ब्रह्मलोक को प्राप्त नहीं करते, वे लोग अनृत (सांसारिक फल) से ढँके हुए हैं (छा० ८।३।२)।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वे० उ० ४।१०) इत्यादौ मायाशब्दो विचित्रार्थसर्गकरत्रिगुणात्मकप्रकृत्यभिधायको नानिर्वचनीयाज्ञानवचनः।

५. तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना।
बालस्य रक्षता देहमेकैकांशेन सूदितम्॥
(वि० पु० १।१९।२०)

इत्यादौ विचित्रार्थसर्गसमर्थस्य पारमार्थिकस्यैवासुराद्यस्त्रविशेषस्यैव मायाशब्दाभिधेयत्वोपालम्भात्। अतो न कदाचिदपि श्रुत्याऽनिर्वचनीयाज्ञानप्रतिपादनम्।

'माया को मूलकारण समझें'—इस वाक्य में माया-शब्द का अर्थ 'विचित्र पदार्थों की सृष्टि करनेवाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति' है, न कि अनिर्वचनीय

---

१. इस वाक्य का मायावेदान्ती लोग अर्थ करते हैं कि अनृत संसार का मूलकारण मायानामक भावरूप अज्ञान है, उसी से शब्दादि विषयों द्वारा कामनाओं की उत्पत्ति होने से लोग अपने वास्तविक रूप से हटा दिये जाते हैं।

(भावरूप) अज्ञान । [विष्णुपुराण के निम्नलिखित श्लोक में] विचित्र वस्तुओं की सृष्टि में समर्थ तथा पारमार्थिक (वास्तविक real), असुर के अस्त्र-विशेष का ही बोध माया शब्द से होता है—'बालक (प्रह्लाद) के शरीर की रक्षा करते हुए, उस आशुगामी [विष्णु के चक्र] ने शम्बर नामक राक्षस की हजारों मायाओं को एक-एक खण्ड करके नष्ट कर दिया' (वि० पु० १।१९।२०)। इसलिए **श्रुति-प्रमाण** से कभी भी अनिर्वचनीय **अज्ञान का प्रतिपादन** नहीं होता।

(६. अज्ञान की सिद्धि अर्थापत्ति से भी नहीं—'तत्त्वमसि' का अर्थ)

नाप्यैक्योपदेशान्यथानुपपत्त्या। तत्त्वंपदयोः सविशेषब्रह्माभिधायित्वेन विरुद्धयोर्जीवपरयोः स्वरूपैक्यस्य प्रतिपत्तुमशक्यतयाऽर्थापत्तेरनुदयदोषदूषितत्वात्।

['तत्त्वमसि' (तुम वह हो) इस वाक्य में जीव और परमात्मा की एकता का उपदेश दिया गया है। यदि इन दोनों में वास्तविक भेद होता तो यह संभव नहीं था कि ऐक्य दिखला दें, तथ्य यह है कि इन दोनों में काल्पनिक भेद ही माना जायगा। यह काल्पनिक भेद किसी अन्य उपाय से सिद्ध नहीं होता अतः इस अभेद ज्ञान के उत्पादक के रूप में—अर्थापत्ति-प्रमाण से—अनिर्वचनीय अज्ञान को स्वीकार करना पड़ेगा। इसका खण्डन करते हुए रामानुज कहते हैं कि जीव और परमात्मा में अज्ञान के अतिरिक्त] किसी दूसरे प्रकार से एकता सिद्ध नहीं होती, इसलिए आप [अज्ञान को सत्ता] नहीं मान सकते। [स्मरणीय है कि जब किसी विशेष अर्थ के आपादान (ग्रहण) के बिना कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती तब अर्थापत्ति-प्रमाण मानते हैं—मोटे देवदत्त पण्डित दिन में खाते ही नहीं। इस वाक्य में न खानेवाले देवदत्त की मोटाई असिद्ध ही हो जायगी यदि हम यह न कहें कि वे रात में ही दुगुना भोजन करते हैं। यह 'रात में दुगुना भोजन करना' अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है। यहाँ भी अज्ञान को न मानें तो काल्पनिक भेद सिद्ध नहीं होगा। लेकिन रामानुज इसे काट रहे हैं।]

कारण यह है कि तत् (वह) और त्वम् (तुम) दोनों पदों में सविशेष (Qualified) ब्रह्म का अर्थ है, आपस में विरोधी जीव और परमात्मा में स्वरूप की एकता का प्रतिपादन करना [इस वाक्य से] कठिन है, अतः अर्थापत्ति-प्रमाण का यहाँ उदय ही नहीं होगा—यही दोष यहाँ लग जायगा। [तत् और त्वम् दोनों सविशेष ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, दोनों में 'नीलो घटः' इत्यादि के

समान समानाधिकरणता (Identity) है—इसी से वाक्यार्थ की सिद्धि हो जाती है, अर्थापत्ति की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यदि किसी दूसरे प्रकार से वस्तुसिद्धि नहीं होती हो, तब न अर्थापत्ति आवेगी ?]

तथा हि—तत्पदं निरस्तसमस्तदोषम् अनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणास्पदं जगदुदयविभवलयलीलं ब्रह्म प्रतिपादयति। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।३) इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात्। तत्समानाधिकरणं त्वंपदं चाचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्माचष्टे। प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य।

इसे इस प्रकार समझें—'तत्' शब्द ब्रह्म का प्रतिपादन करता है जो (ब्रह्म) सारे दोषों से रहित है, असीम अतिशयों (विशेषताओं) से युक्त तथा असंख्य कल्याणप्रद गुणों का आगार है एवं संसार की उत्पत्ति, विभव (स्थिति) और लय की लीला दिखलाता है। 'उसने देखा, मैं बहुत हो जाऊँ, मैं उत्पन्न होऊँ' (छा० ६।२।३) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में उसी (ब्रह्म) का वर्णन है। उसका समानाधिकरण (Identical) 'त्वम्' शब्द भी अचित् (जड़ शरीर) से विशिष्ट जीव की देह धारण करनेवाले ब्रह्म का ही बोध कराता है। समानाधिकरणता (Identity) दो प्रकारों से विशिष्ट किसी एक ही वस्तु पर निर्भर करती है। ['नीलो घटः' में एक ही वस्तु का बोध होता है किन्तु एक प्रकार है नील गुण से विशिष्ट होना, दूसरा प्रकार है घटत्वजाति से विशिष्ट होना। तत् और त्वम् भी ब्रह्म के प्रतिपादक हैं किन्तु दो प्रकारों से विशिष्ट हैं।]

विशेष—'तदैक्षत०' आदि में ब्रह्म का संकल्प दिखलाया गया है जो संसार की उत्पत्ति के पूर्व किया गया है। वे पहले निरीक्षण करते हैं, पुनः बहुत होने की कामना करते हैं कि चित्, अचित् के मिश्रण से जगत् के रूप में मैं ही बहुत बन जाऊँ, उसके लिए पहले तेज, जल, अन्न आदि के रूप में उत्पन्न होऊँ। ब्रह्म का यह संकल्प तभी संभव है जब वे सभी दोषों से रहित हों, अनन्त कल्याणकारी गुणों से संपन्न हों। इसलिए ब्रह्म में वे सब गुण उपपन्न होते हैं। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' शब्द से ऐसे ही ब्रह्म का बोध होता है।

(१०. 'तत्त्वमसि' में लक्षणा—अद्वैत-पक्ष)

ननु 'सोऽयं देवदत्त' इतिवत् तत्त्वमिति पदयोर्विरुद्धभागत्यागलक्षणया निर्विशेषस्वरूपमात्मैक्यं सामानाधिकरण्यार्थः किं

न स्यात्। यथा सोऽयमित्यत्र देशान्तरकालान्तरसंबन्धी पुरुषः प्रतीयते। इदंशब्देन च संनिहितदेशवर्तमानकालान्तरसंबन्धी। तयोः सामानाधिकरण्येनैक्यमवगम्यते। तत्रैकस्य युगपद्विरुद्ध-देशकालप्रतीतिर्न संभवतीति द्वयोरपि पदयोः स्वरूपपरत्वे स्वरूपस्य चैक्यं प्रतिपत्तुं शक्यम्। एवमत्रापि किंचिज्ज्ञत्व-सर्वज्ञत्वादि-विरुद्धांश-प्रहाणेनाखण्डस्वरूपं लक्ष्यत इति चेत्—।

[मायावादी लोग] शंका करते हैं कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी 'यह वही देवदत्त है' इस वाक्य की ही तरह तत् और त्वम् दोनों शब्दों में विरुद्ध अंश को त्याग देने वाली लक्षणा से, आत्मा की एकता का बोध क्यों नहीं होगा, इस एकता में निर्विशेष (Unqualified) स्वरूप रहता है और इस प्रकार समानाधिकरणता (Identity) का अर्थ क्यों नहीं हो जायगा ? 'सोऽयम्' में तत् शब्द से दूसरे स्थान और दूसरे काल से संबद्ध पुरुष का अर्थ मालूम होता है। दूसरी ओर इदम् शब्द से निकट स्थान और वर्तमानकाल-संबन्धी पुरुष का बोध होता है। [यहाँ देखना है कि दोनों पदों से भिन्न-भिन्न स्थानों और कालों का बोध होता है, अतः दोनों को एक वाक्य में स्थापित करना कुछ कठिन-सा लगता है इसलिए] दोनों पदों की एकता समानाधिकरण के नियम से ही संभव है। यदि ऐसा न करें तो एक ही पुरुष के उद्देश्य के रूप में एक साथ ही विरुद्ध देश और काल वाले शब्दों से उस पुरुष (देवदत्त) की प्रतीति संभव नहीं है, इसलिए दोनों पदों को हम व्यक्ति (देवदत्त) का बोधक मानकर व्यक्ति की एकता समझ सकते हैं। [तात्पर्य यह है कि देवदत्त के उद्देश्य के रूप में दो शब्द 'यह' और 'वही' आते हैं किन्तु दोनों शब्दों में स्थान और काल को लेकर काफी अन्तर है। जब दोनों एक ही व्यक्ति के उद्देश्य हैं तो अवश्य ही दोनों में एकता होनी चाहिए, एकता तभी स्थापित हो सकती है जब दोनों शब्द मतभेदवाले अंश को निकाल दें। ऐसी दशा में उनका अपना अर्थ कम हो जायगा तथा लक्षणा से दूसरे अल्प अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी। इसी को 'विरुद्ध भाग त्याग करानेवाली लक्षणा' कहते हैं। इस प्रकार 'सः' और 'अयम्' के बीच एकता समानाधिकरण के नियम (Law of identity) से हो जायगी।] इसी प्रकार, यहाँ भी जीवात्मा और परमात्मा दोनों के बीच, 'तत्त्वमसि' महावाक्य में एकता हो सकती है यदि उन दोनों के विरुद्ध अंश, जैसे थोड़ा जानना (जीव का गुण), सब कुछ जानना

(परमात्मा का गुण) आदि, का त्याग हो जाय और दोनों के अखंड-स्वरूप का बोध हो जाय। [यह मायावादी लोगों का पूर्वपक्ष हुआ।]

(११. रामानुज का उत्तर-पक्ष)

विषमोऽयमुपन्यासः। दृष्टान्तेऽपि विरोधवैधुर्येण लक्षणा-गन्धासंभवात्। एकस्य तावद् भूतवर्तमानकालद्वयसंबन्धो न विरुद्धः। देशान्तरस्थितिर्भूता संनिहितदेशस्थितिर्वर्तत इति देशभेदसंबन्धविरोधश्च कालभेदेन परिहरणीयः। लक्षणापक्षेऽप्येकस्यैव पदस्य लक्षकत्वाश्रयणेन विरोधपरिहारे पदद्वयस्य लाक्षणिकत्वस्वीकारो न संगच्छते।

मायावादियों की यह स्थापना बिल्कुल व्यर्थ है। 'यह वही देवदत्त है' इस दृष्टान्त में भी विरोध नहीं है, अतः लक्षणा की गंध भी इस वाक्य में नहीं है। एक व्यक्ति का संबन्ध यदि भूत और वर्तमान दोनों कालों से [भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में, एक साथ नहीं] है तो कोई भी विरोध की बात नहीं [जिससे लक्षणा स्वीकार करने की आवश्यकता हो, यह तो स्वाभाविक ही है।] दूसरे स्थान में उसकी स्थिति भूतकाल में थी अब उसकी स्थिति निकट स्थान में है इसलिए स्थान के भेदों का संबन्ध, जिससे विरोध होने की संभावना है, उसे काल का भेद मानकर समझा सकते हैं। [कहने का अभिप्राय यह है कि 'सः' और 'अयम्' शब्दों में विरोध है ही नहीं कि लक्षणा मानें। यह माना कि 'सः' का मतलब दूसरे काल और दूसरे स्थान में अवस्थित पुरुष है, यह भी माना कि 'अयम्' का अर्थ निकट काल और निकट स्थान में अवस्थित पुरुष है। किन्तु क्या दो स्थानों में एक ही व्यक्ति नहीं रह सकता ? हाँ, यदि एक साथ एक ही समय में आप कहें तो संभव नहीं है। सो बात तो यहाँ है नहीं। वह पुरुष दो विभिन्न कालों में दो स्थानों पर था। भूतकाल में दूर पर था लेकिन वर्तमान-काल में निकट आ गया। अतः कोई विरोध यहाँ नहीं है। फिर लक्षणा क्यों स्वीकार करें।]

फिर भी, यदि आप लक्षणा मानने के लिए ही सिर पर सवार हैं तो लक्षणा में भी एक ही शब्द लाक्षणिक होता है। किन्तु उक्त विरोध से बचने के लिए दो पदों को (सः और अयम् को) लाक्षणिक स्वीकार करना पड़ता है जो वास्तव में संगत नहीं।

विशेष—माधवाचार्य का उपर्युक्त कथन चिन्तनीय है! लक्षणा में यह आवश्यक नहीं कि लाक्षणिक एक ही पद हो। लक्षणा में केवल अन्वय का

ही विरोध नहीं किया जाता बल्कि तात्पर्यार्थ का भी विरोध होता है। इसके लिए एक पद के समान ही दो, तीन या सभी पदों की लक्षणा होती है। 'विष खा लो पर उसके घर में भोजन मत करो' इसमें सभी पदों की लक्षणा है। लेकिन एक बात है। वह यह कि लाक्षणिक चाहे कितने भी पद हों परन्तु लक्ष्यता का व्यापक कोई एक ही होता है अर्थात् लक्ष्यार्थ एक ही होगा।

इतरथैकस्य वस्तुनः तत्तेदंताविशिष्टत्वावगाहनेन प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यानङ्गीकारे स्थायित्वासिद्धौ क्षणभङ्गवादी बौद्धो विजयेत। एवमत्रापि जीवपरमात्मनोः शरीरात्मभावेन तादात्म्यं न विरुद्धमिति प्रतिपादितम्। जीवात्मा हि ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारत्वाद् ब्रह्मात्मकः। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्' (बृ० ३।७।२२) इति श्रुत्यन्तरात्।

यदि दोनों पदों में लाक्षणिकता मान लें तो एक वस्तु को 'इदम्' और 'तत्' दोनों के गुणों से विशिष्ट मानकर, प्रत्यभिज्ञा (Recognition) को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करना पड़ेगा। इस तरह स्थायित्व नाम की कोई चीज नहीं रह जायगी, क्षणभंगवाद को स्वीकार करनेवाले बौद्धों की ही विजय हो जायगी। [रामानुज का यह पूछना है कि काल में भेद होने से वस्तु में भेद पड़ता है कि नहीं ? यदि नहीं पड़ता है तो लक्षणा की आवश्यकता ही क्या है। यदि वस्तु कालक्रम से भिन्न होती चली जाती है तो क्षणिकवादी बौद्धों का सिद्धान्त ही यह हो जायगा। किन्तु वास्तव में यह बात चिन्तनीय है क्योंकि बौद्ध-मत उसी समय स्वीकार किया जा सकता है जब उपाधि में भेद हो अर्थात् जब दो वस्तुओं में भिन्न-भिन्न उपाधियाँ हों। किन्तु यहाँ पर वस्तु तो एकरूप ही रहती है। 'यह वही देवदत्त है' इस वाक्य में अभेद की उत्पत्ति नहीं की जाती क्योंकि वह तो पहले से ही है। अभेद की सूचना ही यहाँ मिलती है। फल यह हुआ कि अभेद बतलाने के लिए इस वाक्य में लक्षणा का आश्रय लेना आवश्यक है।]

ठीक इसी प्रकार इस (तत्त्वमसि) वाक्य में जीव और परमात्मा दोनों के बीच शरीर और आत्मा का संबन्ध है इसलिए तादात्म्य (Identity) रखना विरोध नहीं होता यही प्रतिपादित किया गया है। जीवात्मा ब्रह्म का शरीर है। इसलिए वह ब्रह्म का ही एक प्रकार है, ब्रह्मात्मक है। इसके लिए वेद का

दूसरा प्रमाण भी है—जो आत्मा में रहता है, आत्मा से भिन्न दूसरी आत्मा जिस परमात्मा को नहीं जान पाती, आत्मा जिसका शरीर है (बृ० ३।७।२२)।

विशेष—यहाँ जीव और ईश्वर के बीच के भेद को बाँधने की बहुत ही सुन्दर चेष्टा हुई है। जीव को शरीर माना गया और ईश्वर उसकी आत्मा है। आत्मा और शरीर चूँकि परस्पर विरोधी शब्द हैं अतः दोनों के बीच शरीरात्म-भाव दिखाकर 'त्वम्' शब्द का अर्थ जीव के शरीर को धारण करने वाले परमात्मा के रूप में किया जाता है। 'तत् त्वम्' कहने पर कोई विरोध नहीं है—तादात्म्य दोनों में हो सकता है।

(१२. सभी शब्द परमात्मा के वाचक हैं)

अत्यल्पमिदमुच्यते। सर्वे शब्दाः परमात्मन एव वाचकाः। न च पर्यायत्वम्। द्वारभेदसंभवात्। तथा हि जीवस्य शरीरतया प्रकारभूतानि देवमनुष्यादिसंस्थानानीव सर्वाणि वस्तूनीति ब्रह्मात्मकानि तानि सर्वाणि।

['त्वम्' शब्द से जो जीव के अन्तर्यामी परमात्मा का बोध हुआ] यह तो थोड़ा सा ही कहा गया। वास्तव में तो संसार में जितने भी [घट, पट, मनुष्य आदि] शब्द हैं, सभी परमात्मा के ही वाचक हैं। ऐसी दशा में यह बात नहीं है कि वे (शब्द) एक दूसरे के पर्याय हो जायँ क्योंकि सभी शब्दों में द्वार के भेद की संभावना है (घट-शब्द घट-पदार्थ की अभिव्यक्ति के द्वारा अपने अन्दर के परमात्मा का बोधक होगा, इस प्रकार सभी शब्द अपने निश्चित पदार्थों के द्वारा परमात्मा का बोध कराते हैं—जिस विधि से बोध होता है उसी के द्वार में अन्तर है)। जैसे देवताओं, मनुष्यों और अन्य योनियों के शरीर के अवयव उनमें निवास करने वाले जीव के शरीर के विभिन्न प्रकार (Forms) हैं, उसी प्रकार सारी वस्तुएँ ब्रह्मात्मक हैं। [मनुष्यों के शरीर के विविध अवयव उस शरीर के विभिन्न रूप हैं, उन अवयवों को हम मनुष्यात्मक कहते हैं क्योंकि सब मनुष्य के ही हैं। ब्रह्म के शरीर के विविध अवयवों के रूप में ये सारी वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं अतः ये ब्रह्मात्मक हैं।]

अतः—

६. देवो मनुष्यो यक्षो वा पिशाचोरगराक्षसाः।
पक्षी वृक्षो लता काष्ठं शिला तृणं घटः पटः॥

इत्यादयः सर्वे शब्दाः प्रकृतिप्रत्यययोगेनाभिधायकतया प्रसिद्धा लोके, तद्वाच्यतया प्रतीयमानतत्तत्संस्थानवद्वस्तुमुखेन तदभिमानिजीवतदन्तर्यामिपरमात्मपर्यन्तसंघातस्य वाचकाः । देवादिशब्दानां परमात्मपर्यन्तत्वमुक्तं तत्त्वमुक्तावल्यां चतुर्थसरे ।

७. जीवं देवादिशब्दो वदति तदपृथक्सिद्धभावाभिधाना-
न्निष्कर्षाभावयुक्ताद्बहुरिह च दृढो लोकवेदप्रयोगः ।
आत्मासंबन्धकाले स्थितिरनवगता देवमर्त्यादिमूर्ते-
र्जीवात्मानुप्रवेशाज्जगति विभुरपि व्याकरोन्नामरूपे ॥
(तत्त्वमुक्ताकलापः ४।८२) इति ।

इसलिये, देव, मनुष्य, यक्ष, पिशाच, सर्प, राक्षस, पक्षी, वृक्ष, लता, काष्ठ, शिला, घट, पट आदि सभी शब्द प्रकृति (Root) और प्रत्यय (Suffix) के जोड़ने से किसी न किसी अर्थ का बोधक होने पर लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध हैं । अपने उसी बाह्यार्थ से वे अपने-अपने शरीरावयवों को धारण करने वाली वस्तुओं का बोध कराते हैं तथा इसी प्रकार, उनका नियन्त्रण करने वाले जीव का (सजीव वस्तुओं में) तथा उसके बाद उसके अन्दर में नियामक के रूप में रहने वाले परमात्मा तक के सारे समूहों (अर्थों) का बोध भी ये शब्द ही करा देते हैं । [हमलोग शब्दों की महत्ता केवल बाह्य वस्तुओं का बोध कराने में ही समझते हैं । लेकिन शब्द न केवल बाह्यार्थ का प्रत्युत अन्तर्यामी परमात्मा तक का बोध कराने में समर्थ हैं । शब्द से वस्तु का बोध होता है, वस्तु से उसके भीतर रहने वाले जीव का, फिर जीव से परमात्मा का—इस प्रकार ये बहुत से संघात बीच में पड़ते हैं ।]

देवादि शब्द परमात्मा तक का बोध करा देते हैं, यह तत्त्वमुक्तावली के चतुर्थ सर (अध्याय) में कहा गया है—'देव आदि शब्द जीव का बोध कराते हैं क्योंकि उस (जीव) से पृथक् न रहनेवाले सिद्ध-भाव (देवादि का शरीर) का उल्लेख किया जाता है । [जीव के बिना शरीर का स्वरूप नहीं सिद्ध किया जा सकता है । इसलिए शरीर जीव से अपृथक् है, यह सिद्ध है ।] इस अर्थ में, लोक और वेद दोनों में [देवादि शब्दों का] प्रयोग बहुत दृढ़तासे होता है, चूँकि [जीव और शरीर में] निष्कर्ष (पार्थक्य Difference) का अभाव है । [लोक में देव, मनुष्य, पशु आदि शब्दों का प्रयोग शरीर तथा जीव दोनों के लिए होता है, किसी एक के लिए नहीं । वेद में भी जहाँ-जहाँ 'देवत्वं प्राप्नोति

गच्छति' का प्रयोग है वहाँ-वहाँ 'देवत्व' का अर्थ है देवता के शरीर की विशेषता। इस प्रकार दोनों स्थानों में विशिष्ट अर्थ में ही इन शब्दों का प्रयोग होता है। इसमें कारण यही है कि शरीर से शरीरी (जीव) अपृथक् रूप से सिद्ध है।]

'आत्मा से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर देव, मनुष्य आदि के शरीर (मूर्ति) की स्थिति पहले जैसी नहीं जानी जाती। [मर जाने पर शरीर क्षण भर भी पहले जैसा नहीं रहता जब कि उस शरीर में आत्मा या जीव का वास था।] यहाँ तक कि परमात्मा ने भी वस्तुओं में जीवात्मा का प्रवेश होने के कारण ही संसार में नाम (Name) और रूप (Form) की सृष्टि की।'

विशेष—वेङ्कटनाथ या वेदान्तदेशिक के लिखे हुए बहुत से ग्रन्थों में तत्त्वमुक्ताकलाप भी एक है। वेदान्तदेशिक का समय १२६७ से १३६८ ई० है। उक्त ग्रन्थ पर उन्होंने स्वयं भी एक टीका लिखी थी। इस ग्रन्थ में विशिष्टाद्वैतवाद के मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन स्रग्धरा छन्दों में किया गया है। इसमें पाँच सर (लड़ी) हैं। इनमें क्रमशः जडद्रव्य, जीव, नायक, बुद्धि और अद्रव्य इन पाँच विषयों का वर्णन है। प्रस्तुत स्थल में उसी ग्रन्थ की सहायता से देव आदि शब्दों से परमात्मा तक का बोध होता है—यही बतलाया जा रहा है। कुछ श्लोकों के तो केवल संकेत ही किये गये हैं।

अनेन देवादिशब्दानां शरीरविशिष्टजीवपर्यन्तत्वं प्रतिपाद्य, 'संस्थानैक्याद्यभावे' (त० मु० क० ४।८३) इत्यादिना शरीरलक्षणं दर्शयित्वा, 'शब्दैस्तन्वंशरूपप्रभृतिः' (४।८४) इत्यादिना विश्वस्येश्वरा पृथक्सिद्धत्वमुपपाद्य, 'निष्कर्षाकूत' (४।८५) इत्यादिना पद्येन सर्वेषां शब्दानां परमात्मपर्यन्तत्वं प्रतिपादितं, तत्सर्वं तत एवावधार्यम्। अयमेवार्थः समर्थितो वेदार्थसंग्रहे नामरूपश्रुतिव्याकरणसमये रामानुजेन।

उपर्युक्त श्लोक में यह सिद्ध किया गया है कि देव आदि शब्दों का अर्थ शरीर से युक्त (पृथक् न रहनेवाले) जीव तक है। पुनः 'संस्थानैक्याद्यभावे' (४।८३) इससे आरम्भ होनेवाले श्लोक में शरीर का लक्षण किया गया है, पुनः 'शब्दैस्तन्वंहरूप' (४।८४) इस श्लोक में यह सिद्ध किया गया है कि विश्व ईश्वर से पृथक् सिद्ध नहीं हो सकता। अन्त में 'निष्कर्षाकूत' (४।८५) के द्वारा सभी शब्दों को परमात्मा का बोधक बतलाया गया है। ये सभी चीजें वहीं से जाननी चाहिएँ। रामानुज ने भी नाम और रूप का वर्णन करनेवाली

श्रुतियों का विश्लेषण करते समय अपने वेदार्थ-संग्रह नामक ग्रन्थ में भी यही बात पुष्ट की है।

विशेष—तत्त्वमुक्ताकलाप के उपर्युक्त संकेतों के पूरे श्लोक यों हैं—

संस्थानैक्याद्यभावे बहुषु निरुपधिर्देहशब्दस्य रूढि-
लोकाम्नायप्रयोगानुगतमिह ततो लक्ष्म निष्कर्षणीयम्।
अव्याप्त्यादिदुःस्थं परमतपठितं लक्षणं तत्र तस्मात्-
यद्धीतुल्याश्रयं तद्वपुरिदमपृथक्सिद्धिमद् द्रव्यमस्य॥

[संसार के सभी जीवधारियों में] शरीर की रचना की एकता नहीं देखी जाती, बहुत से पदार्थों में देह शब्द का प्रयोग (रूढि = Convention) उपाधिहीन (Unconditional) ही है, यह लोक और वेद के प्रयोगों से सिद्ध है। इसलिये उसके अनुरूप ही एक लक्षण (शरीर का) निकालना चाहिये। दूसरे मतों के अनुसार दिये गये लक्षण अव्याप्ति आदि दोषों से दूषित हैं [जैसे नैयायिक लोग 'चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वम्' कहते हैं, ईश्वर के शरीर के रूप में अभिमत काल आदि में चेष्टा नहीं है अतः पूरे शरीर के अर्थ को यह लक्षण व्याप्त नहीं करता।] इसलिये शरीर का लक्षण होगा—बुद्धि का आश्रय ही जिसका आश्रय है, जो द्रव्य जिससे पृथक् होकर नहीं रह सकता, वही उसका शरीर है। [शरीर का आधार वही है जो बुद्धि का है, शरीर बुद्धि से पृथक् नहीं हो सकता, जो जिससे पृथक् नहीं हो वही उसका शरीर है।]

शब्दैस्तन्वंशरूपप्रभृतिभिरखिलः स्थाप्यते विश्वमूर्त्ते-
रित्थंभावः प्रपञ्चस्तदनवगमतस्तत्पृथक्सिद्धमोहः।
श्रोत्राद्यैराश्रयेभ्यः स्फुरति खलु पृथक् शब्दगन्धादिधर्मो
जीवात्मन्यप्यदृश्ये वपुरपि हि दृशा गृह्यतेऽनन्यनिष्ठम्॥

तनु[1], अंश[2], रूप[3] आदि[4] शब्दों से यह सिद्ध होता है कि इस रूप में (पृथक् न रहकर सिद्ध होनेवाला) यह समूचा संसार (प्रपंच) उस विश्वमूर्ति (विष्णु) का ही है (विष्णु से पृथक् यह जगत् सिद्ध नहीं होता)। इसे नहीं समझने के कारण मूर्ख लोग ईश्वर से जगत् को पृथक् समझने की मूर्खता (मोह) करते

१. उदाहरण—तत्सर्वं वै हरेस्तनुः (वि० पु० १।२२।३७)।
२. ममैवांशो जीवलोके (भ० गी० १५।७)।
३. द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य (वि० पु० १।२२।५३)।
४. आदि से शक्ति, काय, शरीर आदि का ग्रहण होता है—विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता (वि० पु० ६।७।६), यदम्बु वैष्णवः कायः (वि० पु० २।१२।३७), यस्यात्मा शरीरम् (बृ० उ० ३।७।२२) इत्यादि।

हैं। [ज्ञानी लोग प्रपंच को सदैव ईश्वर से अपृथक् ही सिद्ध समझ कर अपने व्यवहार चलाते हैं।] जिस प्रकार, श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा, शब्द-गन्ध आदि गुणों का ग्रहण (Apprehension), अपने आश्रयों (आकाश, पृथिवी आदि) से पृथक् होकर ही होता है [क्योंकि इन्द्रियाँ आश्रय को ग्रहण नहीं कर सकतीं, अतः धर्मों का ज्ञान अकेला ही होता है], उसी प्रकार अदृश्य जीवात्मा में भी [ईश्वर का ग्रहण करने में असमर्थ लोग] अपनी नंगी आँखों से केवल शरीर का ग्रहण करते हैं, किसी अन्य पदार्थ (जीव) का ग्रहण नहीं कर पाते। [इन्द्रियाँ केवल गुणों का ग्रहण कर सकती हैं, उनके आधार का नहीं। केवल बाह्येन्द्रियों का सहारा लेनेवाले मूर्ख लोग भी केवल शरीर का ग्रहण कर सकते हैं, जीव से विशिष्ट (अपृथक् सिद्ध) शरीर का नहीं। आँखों से जीव के दर्शन नहीं हो सकते।]

उपर्युक्त दोनों श्लोकों में संसार को परमात्मा से अपृथक् सिद्ध किया गया है। अब संसार के वाचक शब्दों का 'पार्थक्य' (निष्कर्ष) अर्थ न होने के कारण परमात्मा ही अर्थ है, यह बतलाया जा रहा है—

निष्कर्षाकूतहानौ विमतिपदपदान्यन्तरात्मानमेकं
तन्मूर्तेर्वाचकत्वादभिदधति यथा रामकृष्णादिशब्दाः।
सर्वेषामाप्तमुख्यैरगणि च वचसां शाश्वतेऽस्मिन्प्रतिष्ठा
पाकैस्तस्याप्रतीतेर्जगति तदितरैः स्याच्च भङ्क्त्वा प्रयोगः।

जहाँ [जीव और शरीर में] पार्थक्य रखने का अभिप्राय नहीं है,[1] वहाँ विवादास्पद (विमतिपद) शब्द भी एकमात्र 'अन्तरात्मा' अर्थ का ही बोध कराते हैं क्योंकि सारे शब्द उस (ईश्वर) की मूर्त्ति (Body) के ही वाचक हैं। राम, कृष्ण आदि शब्द भी ऐसे ही हैं [जिनसे परमात्मा के अर्थ का बोध होता है]। आप्त (प्रामाणिक) लोगों में प्रधानों (महर्षियों) ने इसी शाश्वत ब्रह्म में सारे शब्दों की अवस्थिति मानी है। [यह अवस्थिति वाच्यार्थ के ही रूप में है, दूसरी किसी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। एक ऐसी ही उक्ति भी है— 'नताः स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती।'] पाकों (अज्ञानियों, डिम्भों) के

---

१. कहीं-कहीं जीवात्मा और शरीर में अपृथक्-सिद्धि हो जाने पर भी पार्थक्य से प्रतिपादन होने के कारण पार्थक्य अर्थ अभीष्ट होता है जैसे—यह जीवात्मा का शरीर है। यहाँ शरीर का अर्थ जीवात्मा-पर्यन्त नहीं होगा, केवल शरीर का ही यहाँ अर्थ है। 'यस्य पृथिवी शरीरम्' यहाँ भी पृथिवी शब्द इसी प्रकार का है, इससे परमात्मा तक अर्थ नहीं हो सकता। जहाँ ऐसी विवक्षा नहीं है वहाँ तो प्रत्येक शब्द परमात्मा तक का वाचक हो सकता है।

द्वारा उसकी प्रतीति नहीं होती, उनके साथ संसार में व्यवहार करनेवाले दूसरे (विद्वान्) लोग भी तोड़कर (लक्षणा से) शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में (लौकिक वस्तुओं के अर्थ में) करते हैं। [वाच्यार्थ तो शब्दों का परमात्मा ही है, लक्ष्यार्थ ये सारी वस्तुएँ हैं क्योंकि इसी अर्थ में जीव और शरीर की पृथक् सिद्धि होती है, गौण अर्थ (Secondary meaning) का सहारा लिया जाता है।]

(१३. निर्विशेष ब्रह्म की अप्रामाणिकता)

किं च सर्वप्रमाणस्य सविशेषविषयतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाणं समस्ति। निर्विकल्पकप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते। अन्यथा सविकल्पके सोऽयमिति पूर्वप्रतिपन्न-प्रकारविशिष्टप्रतीत्यनुपपत्तेः।

इसके अतिरिक्त, चूँकि सभी प्रमाणों का विषय (Object) सविशेष (Determinate, रूपादि से युक्त) पदार्थ हुआ करता है इसलिए निर्विशेष (आकार-प्रकार हीन) वस्तु की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण सङ्गत नहीं हो सकता। यही नहीं, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (Indeterminate Perception) में भी सविशेष (आकार-प्रकार से युक्त) ही वस्तु की प्रतीति होती है [न कि नैयायिकों के अनुसार निर्विशेष वस्तु की]। नहीं तो सविकल्पक प्रत्यक्ष (Determinate Perception) में 'यह वही है' इस वाक्य में पहले से प्रतिपादित वस्तु के आकार-प्रकार आदि की विशेषतायें नहीं जानी जा सकतीं। [जबतक हम पहले से वस्तु के आकार-प्रकार नहीं जानेंगे तो कैसे कह सकते हैं कि यह वही वस्तु है। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु की विशेषतायें अवश्य ज्ञात होनी चाहिएँ।]

विशेष—रामानुज का निर्विकल्पक और सविकल्पक नैयायिकों से कुछ भिन्न है, इसीलिए वे इस प्रकार की पंक्तियाँ लिख रहे हैं। नैयायिक लोग निर्विकल्पक को निष्प्रकारक ज्ञान समझते हैं जिसमें वस्तु की सत्ता ही ज्ञात रहती है जैसे—इदं किंचित्। रामानुज निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की परिभाषा यों करते हैं—एकजातीयद्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम् अर्थात् एक प्रकार की वस्तुओं में प्रथम पिण्ड का ग्रहण करना। देवदत्त जब पहले से न देखे हुए घट को देखकर यह ज्ञान पाता है कि यह घट है (**अयं घटः**) तो यह निर्विकल्पक हुआ। यहाँ यद्यपि घटत्व के रूप में उस घट का प्रकार प्रतिभासित होता है फिर भी यह घटत्व इस प्रकार के दूसरे घटों में (एकजातीयद्रव्येषु) अनुवृत्त है—यह

अनुवृत्ति का प्रकार नहीं प्रतीत होता, इसलिए इस ज्ञान को वे निर्विकल्पक कहते हैं। जब वैसा ही दूसरा घट देखते हैं तब पहले देखे गये घट के आधार पर ही कहते हैं कि यह भी उसी जाति (Class) का है यह अनुवृत्ति ('घटत्व' की) प्रतीत होती है, इसलिए यह ज्ञान सविकल्पक है जिसका उदाहरण है – **सोऽयं घटः**। नैयायिक लोग सविकल्पक का अर्थ वस्तु का प्रकार आदि लेते हैं जिसमें 'अयं रूपादिविशिष्टो घटः' कहते हैं। रामानुज का सविकल्पक नैयायिकों की प्रत्यभिज्ञा (Recognition) है।

सभी प्रमाणों में सविशेष वस्तु का ही ग्रहण होता है। यदि वस्तु में रूप आदि न हों तो प्रत्यक्ष प्रमाण की तो प्रवृत्ति होगी ही नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष के लिए वस्तु और इन्द्रियों का संनिकर्ष होना आवश्यक है; जबतक वस्तु में कोई गुण नहीं, तब तक किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होगा। दूसरे सारे प्रमाण प्रत्यक्ष के ही आधार पर होते हैं अतः उन सबों की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि रामानुज शङ्कर के निर्विशेष ब्रह्म (Unqualified Brahman) का खण्डन करते हैं।

(१४. प्रपञ्च की सत्यता)

किं च तत्त्वमस्यादिवाक्यं न प्रपञ्चस्य बाधकम्। भ्रान्तिमूलकत्वात्, भ्रान्तिप्रयुक्तरज्जुसर्पवाक्यवत्। नापि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं निवर्तकम्। तत्र प्रमाणाभावस्य प्रागेवोपपादनात्। न च प्रपञ्चस्य सत्यत्वप्रतिष्ठापनपक्ष एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाव्याकोपः।

इसके अतिरिक्त 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों को [शङ्कराचार्य की तरह] इस दृश्यमान जगत् (प्रपञ्च) का विरोधी (बाधक) नहीं समझना चाहिए। इसके मूल में भ्रान्ति (Illusion) है, जैसे भ्रम में ही प्रयुक्त होनेवाले 'रस्सी-साँप' के वाक्य में हम पाते हैं। [यह रस्सी नहीं, साँप है—यहाँ रस्सी को साँप समझना भ्रान्ति है। भ्रान्त व्यक्ति की बात पर किसी को विश्वास नहीं होता है। वास्तविक रस्सी को साँप समझनेवाला व्यक्ति ही भ्रान्त है। वैसे ही यदि प्रपञ्च को भ्रान्तिमूलक मान लें तो वेदादि भी भ्रममूलक ही हो जायँगे—फिर उनकी बात पर विश्वास ही कौन करेगा ? 'तत्वमसि' वाक्य भी तो वेद के अन्तर्गत है जो स्वयं एक प्रपञ्च होने के कारण भ्रान्तिमूलक है। फिर इस वाक्य के आधार पर प्रपञ्च का बाध कैसे कर सकेंगे ?]

पुनः, ब्रह्म और जीव में एकता का ज्ञान हो जाने से प्रपञ्च की निवृत्ति

(नाश) हो जाती हो, ऐसी बात नहीं, क्योंकि [ब्रह्म और आत्मा की एकता के विषय में] कोई भी प्रमाण नहीं है, यह हमने पहले ही सिद्ध कर दिया है। [अविद्या को मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है, यह कह चुके हैं। ब्रह्म और आत्मा में प्रत्यक्ष भेद है जिसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता, अतः ब्रह्म और आत्मा की एकता प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं होती। यही नहीं, जब सभी प्रमाणों को सविशेषवस्तु के रूप में विषय की आवश्यकता पड़ती है, तब तो विशेष का अर्थ है एक और पदार्थ। विशेषण और विशेष्य में एकता कैसी ? अतः जीव ब्रह्म का विशेषण है, दोनों में एकता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। जब एकता नहीं है तो किसी भी मूल्य पर प्रपञ्च का नाश नहीं होगा। स्मरणीय है कि शङ्कर अविद्या की निवृत्ति से जीव-ब्रह्म की एकता मानते हैं और उसके बाद प्रपञ्च की भ्रान्ति मिट जाती है जिससे पुरुष मुक्त होता है। रामानुज न तो भ्रान्तिमूलक प्रपञ्च मानते हैं, न प्रपञ्च का नाश, न ब्रह्म-जीव की एकता और न ही जीवन्मुक्ति।]

अब, यदि सत्य के रूप में प्रपञ्च को प्रतिष्ठित (सिद्ध) करें तो भी 'एक के ज्ञान से सबों का ज्ञान हो जायगा' इस प्रतिज्ञा में बाधा नहीं पड़ती। [शंकराचार्य परमात्मा के अतिरिक्त किसी को सत्य नहीं मानते। प्रपञ्चमात्र को आत्मा पर आरोपित करते हैं, इसलिए प्रपञ्च के आधार के रूप में जो आत्मा है उसे जान लेने पर सारे प्रपञ्च का ज्ञान हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (६।१।४) में कहा गया है—**यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्** इसी की ओर संकेत है। रस्सी जान लेने पर 'साँप में क्या तत्त्व है', यह ज्ञात हो जाता है। सभी वस्तुओं के ज्ञान का अर्थ है सबों में विद्यमान तत्त्वांश का ज्ञान हो जाना। दूसरे अंशों में साम्य है कि नहीं, यह दिखलाना जरूरी नहीं है। इसीलिए सम्पूर्ण जगत् के विवर्त का उपादान-कारण (Material cause) परमात्मा सिद्ध होता है। रामानुज केवल परमात्मा को ही सत्य नहीं मानते, संसारमात्र उनके लिए सत्य है। ऐसी अवस्था में केवल एक के ज्ञान से सबों का ज्ञान होगा, यह कहना बड़ा कठिन है। घट के ज्ञान से पट का ज्ञान नहीं हो जाता। तब तो रामानुज के अनुसार उपर्युक्त श्रुतिवाक्य की निरर्थकता ही सिद्ध हो जायगी। यही इस शङ्का का आशय है। रामानुज इसका प्रतिवाद करते हुए कारण अगले वाक्यों में देते हैं।]

प्रकृति-पुरुष-महदहंकार-तन्मात्र-भूतेन्द्रिय-चतुर्दशभुवनात्मक-ब्रह्माण्ड-तदन्तर्वर्ति-देव-तिर्यङ्-मनुष्य-स्थावरादि-सर्वप्रकार-

संस्थान-संस्थितं कार्यमपि सर्वं ब्रह्मैवेति कारणभूतब्रह्मात्मज्ञानादेव सर्वविज्ञानं भवतीत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्योपपन्नतरत्वात्। अपि च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्यासत्त्वादेव एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा बाध्येत।

यह ब्रह्माण्ड (Universe) चौदह भुवनों (Worlds) से बना है जो प्रकृति (Primary cause), पुरुष (Self), महत् (Intellect), अहङ्कार (Self-position), तन्मात्रों (Subtle elements), भूतों (Gross elements) तथा इन्द्रियों (Organs of sense and action) के साथ-साथ है। उस (ब्रह्माण्ड) के अन्तर्गत देवता, पशु, मनुष्य, स्थावर (Immobile things) आदि सभी प्रकार के [पदार्थ अपने-अपने] संस्थानों (Organs) से युक्त होकर अवस्थित हैं। ये सब के सब कार्य के रूप में हैं फिर भी ब्रह्म ही हैं [क्योंकि ब्रह्म के शरीर से ही ये सब पदार्थ निकले हैं। मूलकारण भी ब्रह्म के शरीर से निकला है इसलिए प्रधान (पुरुष) सूक्ष्म शरीर का है, ब्रह्माण्ड स्थूल शरीर का।] इसलिए कारणस्वरूप ब्रह्मात्मक ज्ञान से ही सबों का ज्ञान हो जाता है। एक को अच्छी तरह जानने से सभी का ज्ञान हो जाता है, यह और भी अच्छी तरह सिद्ध हो गया। [कहने का अभिप्राय यह है कि संसार का कारण ब्रह्म सूक्ष्म शरीर में है, जब कि कार्यरूप संसार या ब्रह्माण्ड स्थूल शरीर में है। 'सूक्ष्म शरीरसे विशिष्ट आत्मा' के ज्ञान के द्वारा 'स्थूल शरीर से विशिष्ट आत्मा' का ज्ञान हो जाता है। यह बहुत ही सुकर है। जैसे किसी बालक को छोटे रूप में देखकर उसे ही युवावस्था में बड़े शरीर में भी जान लेते हैं कि यह वही बालक है। मिट्टी जिस प्रकार घटादि का उपादान कारण है उसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर भी स्थूल शरीर का है। इसमें दृष्टान्त (मिट्टी-घट) और दार्ष्टान्तिक (सूक्ष्म शरीरादि) में एक-एक अंश को लेकर साम्य है, जब कि शङ्कर की व्याख्या में विवर्त का आश्रय लेने से उतनी समता नहीं रहती। ब्रह्म और प्रपञ्च में वह सम्बन्ध नहीं जो मिट्टी और घटादि में है। इसलिए रामानुज का सिद्धान्त और अधिक सिद्ध—उपपन्नतर—है[1]!]

---

१. यथा सोम्यैकेन० की व्याख्या रामानुज ने जैसी की है, वह श्रुति का तात्त्विक अर्थ नहीं है। अक्षरों से वैसा व्यक्त नहीं होता। वे कारण के रूप में सूक्ष्मशरीरविशिष्ट आत्मा लेते हैं, कार्य के रूप में स्थूलशरीरविशिष्ट आत्मा लेते हैं। आत्मा को दोनों जगहों में रखने से उनका कुछ विशेष मतलब नहीं। तात्पर्य यही है कि सूक्ष्मशरीर के ज्ञान से उसके कार्य स्थूलशरीर का ज्ञान

इतना ही नहीं, यदि [शङ्कर की तरह] ब्रह्म के अतिरिक्त सभी पदार्थों को मिथ्या मान लें तो सभी पदार्थों को असत् मानकर, एक के ज्ञान से सबों का ज्ञान होने की प्रतिज्ञा को छोड़ देना पड़ेगा। [ज्ञान-विज्ञान सत् (Existent) वस्तु का ही होता है, असत् का नहीं। खरहे की सींग आदि का विज्ञान सम्भव नहीं है।]

नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापन्नप्रकृतिपुरुषशरीरं ब्रह्म कारणावस्थम्। जगतस्तदापत्तिरेव प्रलयः। नामरूपविभाग-विभक्तस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यावस्थम्। ब्रह्मणस्तथा-विधस्थूलभावश्च सृष्टिरित्यभिधीयते। एवं च कार्यकारणयोरनन्य-त्वमपि आरम्भणाधिकरणे प्रतिपादितमुपपन्नतरं भवति।

[जगत् को सत्य मानने से इसका विनाश सम्भव नहीं होगा और प्रलय की सिद्धि नहीं होगी। इस शङ्का का समाधान रामानुज इस प्रकार कर ते हैं—जिसमें नाम (Name) और रूप (Form) का निश्चय (विभाग) नहीं हो सके ऐसी सूक्ष्मावस्था में रहनेवाला, प्रकृति-पुरुष के शरीर के रूप मे अवस्थित ब्रह्म कारणावस्था में है; जब संसार अपने इसी रूप में लौट जाता है तब उसे **प्रलय** (Dissolution) कहते हैं। नाम और रूप के विभागों से मालूम होनेवाला स्थूल (Gross) चित् और अचित् वस्तुओं का शरीर (·Body) लिये हुए ब्रह्म कार्यावस्था में स्थित है। जब ब्रह्म इस प्रकार के स्थूल रूप में आ जाता है तब उसे **सृष्टि** कहते हैं।

इसी प्रकार [व्यास ने ब्रह्मसूत्र के] आरम्भण (Origin of the world) अधिकरण में कार्य-कारण की एकता का प्रतिपादन किया है—और इससे वह एकता अच्छी तरह से सिद्ध हो जाती है।

(१५. निर्गुणवाद और नानात्वनिषेध की सिद्धि)

निर्गुणवादाश्च प्राकृतहेयगुणनिषेधविषयतया व्यवस्थिताः। नानात्वनिषेधवादाश्चैकस्यैव ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारभूतं सर्वं

होता है—कार्य और कारण एक होते हैं। श्रुतिवाक्य मे ऐसा निर्देश नहीं है। कारण के रूप में ज्ञान का विषय आत्मा ही है, कार्य है जगत्। तो आत्मा के ज्ञान से जगत् का ज्ञान होता है, इतना ही कहना है। थिबौट ने ठीक ही कहा है कि रामानुज ब्रह्मसूत्र के अधिक निकट हैं जब कि शङ्कर उपनिषदों के अधिक समीप हैं।

चेतनाचेतनात्मकं वस्त्विति सर्वस्यात्मतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवा-वस्थितमिति सर्वात्मकब्रह्मपृथग्भूतवस्तुसद्भावनिषेधपरत्वाभ्युप-गमेन प्रतिपादिताः ।

[यदि ब्रह्म को सविशेष अर्थात् सगुण मानें तो 'निर्गुण' शब्द धारण करनेवाली श्रुतियों की क्या व्याख्या होगी ?] 'निर्गुण' का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों की यह व्यवस्था होगी कि प्राकृत (प्रकृतिसम्बन्धी Phenomenal) त्याज्य गुणों (जैसे जरा, मरण आदि) का निषेध करके ही परमात्मा का ज्ञान सम्भव है। [परमात्मा निर्गुण है = उसमें जरा, मरण आदि त्याग करने योग्य गुण नहीं हैं।]

[फिर भी, रामानुज परमेश्वर से जीवों और जड़-पदार्थों का भेद स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर श्रुतियाँ बहुत्व (Pluralism) का निषेध करती हैं— नेह नानास्ति किंचन (बृ० ४।४।१९), एकमेवाद्वितीयम् (छां० ६।२।१)। ऐसी दशा में इन श्रुतियों को क्या उत्तर देंगे ?] एक ही ब्रह्म के शरीर के रूप में उसी (ब्रह्म) के प्रकार (Type) के रूप में सारी वस्तुएँ चेतनात्मक (Sentient) और अचेतनात्मक (Unsentient) हैं, इसलिए सबों की आत्मा के रूप में, सब प्रकार से ब्रह्म (एकमात्र) ही अवस्थित है। अतः 'नानात्व' का निषेध करनेवाले श्रुतिवाक्यों का यही अर्थ दिया गया है कि सभी पदार्थों की आत्मा—ब्रह्म—से पृथक् किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है। ऐसे ही अर्थ से उन वाक्यों की सिद्धि होती है।

(१६. रामानुज-मत की तत्त्वमीमांसा)

किमत्र तत्त्वं भेदोऽभेद उभयात्मकं वा ? सर्वं तत्त्वम् । तत्र सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थितमित्यभेदोऽभ्युपेयते । एकमेव ब्रह्म नानाभूतचिदचित्प्रकारात् नानात्वेनावस्थितमिति भेदाभेदौ । चिदचिदीश्वराणां स्वरूपस्वभाववैलक्षण्यादसंकराच्च भेदः ।

रामानुज के मत से तत्त्व किस प्रकार का है—भेदात्मक, अभेदात्मक या उभयात्मक ? सभी प्रकार का तत्त्व है। सबों का शरीर बनकर, सब प्रकार से केवल ब्रह्म ही अवस्थित है, इसलिए **अभेदवाद** की उपपत्ति होती है। ब्रह्म एक ही है, नाना प्रकार के चित् और अचित् पदार्थों के भेद के कारण नाना रूप से अवस्थित है—इसलिए **भेदाभेदवाद** की सिद्धि होती है। चित्, अचित् और

ईश्वर में स्वरूप और स्वभाव को लेकर भेद (विलक्षणता Peculiarity) है, उन्हें मिलाकर नहीं रख सकते, इसलिए **भेदवाद** की भी सिद्धि होती है।

विशेष—चित् का स्वरूप है ज्ञानस्वरूप होना, इससे अचित् भिन्न है। चित् और ईश्वर में यद्यपि ज्ञानात्मकता समान है पर चित् का स्वरूप अणु है, ईश्वर का विभु—यही भेद होता है। अब तीनों पदार्थों के स्वभाव अपनी अलंकृत शैली में रामानुज उपस्थित करते हैं।

(१६. क. चित्, अचित् और ईश्वर के स्वभाव)

तत्र चिद्रूपाणां जीवात्मनामसंकुचितापरिच्छिन्न-निर्मल-ज्ञानरूपाणाम् अनादिकर्मरूपाविद्यावेष्टितानां तत्तत्कर्मानुरूपज्ञान-संकोचविकाशौ भोग्यभूताचित्संसर्गस्तदनुगुणसुख-दुःखोपभोग-द्वयरूपा भोक्तृता भगवत्प्रतिपत्तिर्भगवत्पदप्राप्तिरित्यादयः स्वभावाः।

अचिद्वस्तूनां तु भोग्यभूतानामचेतनत्वमपुरुषार्थत्वं विकारास्पदत्वमित्यादयः।

परस्येश्वरस्य भोक्तृ-भोग्ययोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानमपरिच्छेद्यज्ञानैश्वर्यवीर्यशक्ति-तेजःप्रभृत्यनवधिकातिशयासंख्येय-कल्याण-गुणगणता स्वसंकल्पप्रवृत्तस्वेतरसमस्तचिदचिद्वस्तुजातता स्वाभिमतस्वानुरूपैकरूपदिव्यरूपनिरतिशयविविधानन्तभूषणतेत्यादयः।

(१) इनमें **चित्** के रूप में जीवात्मा हैं, वे संकोचरहित, सीमाहीन, निर्मल ज्ञान के स्वरूप हैं, अनादि कर्म रूपी अविद्या से घिरे हैं, इसलिए अपने-अपने कर्म के अनुसार ज्ञान का **संकोच** और **विकास** होना,[1] भोगने योग्य अचित् वस्तुओं के **संसर्ग** में आना, उसके गुण के अनुसार ही सुख और दुःख इन दोनों का उपभोग करने से **भोक्ता** बनना, भगवान् के **स्वरूप का ज्ञान**, भगवान् के **चरणों की प्राप्ति** आदि [उस जीवात्मा के] स्वभाव हैं।

---

१. स्मरणीय है कि स्वरूप-ज्ञान का संकोच-विकास नहीं होता, जो ज्ञान जीवात्मा में गुण के रूप में है उसी में संकोच-विकास होते हैं। अतः यहाँ इसी ज्ञान से अभिप्राय है। रामानुज कर्म को ही अविद्या मानते हैं जिससे ज्ञान का संकोच और विकास होता है।

(२) **अचित्** वस्तुएँ भोग्य (भोग करने के योग्य Enjoyable) हैं, इनके स्वभाव (Nature) हैं—**अचेतन** होना, पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति न करना (**अपुरुषार्थ**), **विकार** प्राप्त करना इत्यादि ।

(३) **परमेश्वर** के स्वभाव हैं—भोक्ता (जीव) और भोग्य (जड़) दोनों के आन्तरिक **नियन्ता** (Internal controller) के रूप में अवस्थित रहना, असीम (अपरिच्छेद्य) ज्ञान, ऐश्वर्य (Dominion), वीर्य (Majesty) शक्ति (Power), तेज (Brilliance) इत्यादि अनन्त **अतिशयों** (Glory) से युक्त तथा असंख्य कल्याणकारी **गुणों का समूह** होना, अपने संकल्प (इच्छा) से ही प्रवृत्त होकर अपने से भिन्न सारी चित् और अचित् वस्तुओं को **उत्पन्न करना,** अपने अभीष्ट तथा अपने अनुरूप, एक रूप से तथा दिव्य रूप से [युक्त होकर] निरतिशय (जिसे कोई पार न करसके Unsurpassable) विविध और अनन्त **भूषणों** (विशेषणों) **को धारण करना** इत्यादि ।

विशेष—ईश्वर के अतिशयों में **ज्ञान** वह गुण है जो सदा सभी विषयों का प्रकाशन करते हुए अपना प्रकाशन भी करता है। **ऐश्वर्य** = स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करना, सभी जीवों और जड़ों पर नियंत्रण की सामर्थ्य रखना। **वीर्य** = संसार का उपादान कारण होने पर भी विकृति न होना। **शक्ति** = संसार का मूल कारण होना, न घटी हुई घटना उत्पन्न करना। **तेज** = सहकारियों (Subordinates) की आवश्यकता न होना, दूसरों से अभिभूत (Controlled) नहीं होना। इस प्रकार सभी पदार्थों की विशेषताएँ (Characteristics) बतलाई गई। अब वेंकटनाथ के तत्त्वमुक्ताकलाप के आधार पर पदार्थों का वर्णन होगा।

वेङ्कटनाथेन त्वित्थं निरटङ्कि पदार्थविभागः—

८. द्रव्याद्रव्यप्रभेदान्मितमुभयविधं तद्विदस्तत्त्वमाहुः
द्रव्यं द्वेधा विभक्तं जडमजडमिति प्राच्यमव्यक्तकालौ ।
अन्त्यं प्रत्यक्पराक्च प्रथममुभयथा तत्र जीवेशभेदा-
न्नित्या भूतिर्मतिश्चेत्यपरमिह जडामादिमां केचिदाहुः ॥
(त० मु० १।६)

९. तत्र द्रव्यं दशावत्प्रकृतिरिह गुणैः सत्त्वपूर्वैरुपेता
कालोऽब्दाद्याकृतिः स्यादणुरवगतिमाञ्जीव ईशोऽन्य आत्मा ।

संप्रोक्ता नित्यभूतिस्त्रिगुणसमधिका सत्त्वयुक्ता तथैव
ज्ञातुर्ज्ञेयावभासो मतिरिति कथितं संग्रहाद् द्रव्यलक्ष्म ॥
(त० मु० १।७) इत्यादिना ।

वेंकटनाथ ने पदार्थों का विभाजन इस रूप में वर्णित किया है—'द्रव्य और अद्रव्य के भेद से दो प्रकार का तत्त्व जाना जाता है—उसके ज्ञाता लोग ऐसा कहते हैं। द्रव्य भी दो प्रकार का है—**जड़** और **अजड़**। उनमें पहला (जड़) भी दो भेदों का है – **अव्यक्त** (प्रकृति और जगत् दोनों) तथा **काल**। दूसरा (अजड़) भी दो भेदों का है –निकट (**प्रत्यक्**) और दूर (**पराक्**) [अपने लिए प्रकाशित होनेवाला प्रत्यक् है, दूसरों के लिए प्रकाशित अजड़ पराक् है।] इनमें भी प्रथम (प्रत्यक्) **जीव** और **ईश्वर** के भेद से दो प्रकार का है। दूसरे (पराक्) के भी दो भेद हैं—**नित्यविभूति** तथा **मति**। पहली (नित्यविभूति) को कुछ विद्वान् 'जड़ा' भी कहते हैं' (तत्त्वमुक्ताकलाप १।६)।

'उनमें द्रव्य अवस्था धारण करता है (यह द्रव्य का लक्षण हुआ—विभिन्न अवस्थाओं में द्रव्य ही परिवर्तित होता है)। सत्त्व आदि (रजस्, तमस्) गुणों से युक्त इसकी प्रकृति (मूल अवस्था) है। अब्द (वर्ष) आदि के आकार (रूप) में **काल** है। **जीव** अणु तथा ज्ञान (अवगति) से युक्त है, दूसरी आत्मा (चेतन स्वरूप) को **ईश्वर** कहते हैं। **नित्य विभूति** (Eternal Bliss) उसे कहा गया है जो तीन गुणों से परे हो तथा सत्त्व गुण से युक्त हो। ज्ञाता (जीव + ईश्वर) को जो ज्ञेय (जानने के लायक) वस्तु का अवभास (विषय का प्रकाश) मिलता है, उसे **मति** कहते हैं। इस प्रकार संक्षेप में द्रव्य का लक्षण कहा गया है।' (त० मु० क० १।७)।

विशेष—इन भेदों के स्पष्टीकरण के लिए हम चित्रांकन (Figure) करें —

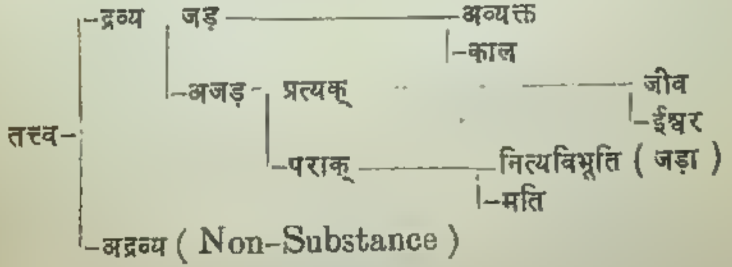

पहले श्लोक में द्रव्य का विभाजन है, दूसरे में उनके लक्षण हैं। द्रव्य का सामान्य लक्षण है 'दशा में रहना' अवस्थाश्रयीभूतं द्रव्यम् (जो अवस्था का आश्रय या आधार हो)।

(१६. ख. जीव का वर्णन)

तत्र चिच्छब्दवाच्या जीवात्मानः परमात्मनः सकाशाद् भिन्ना नित्याश्च । तथा च श्रुतिः—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३।१।१, श्वे० ४।६) इत्यादिका । अत एवोक्तं 'नानात्मानो व्यवस्थातः' (वैशे० सू० ३।२।२०) इति तन्नित्यत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम्—

१०. न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (गीता २।२०) इति ।

इनमें 'चित्' शब्द से ज्ञात जीवात्मा (Individual spirits) परमात्मा से भिन्न हैं और नित्य हैं। श्रुति भी ऐसा कहती है—'दो पक्षी जो साथ रहते हैं और मित्र हैं······' (मुण्डकोप० ३।१।१ तथा श्वेताश्वतरोप० ४।६) इत्यादि। इसीलिए [कणाद ने भी वैशेषिक-सूत्र में] कहा है—'विभिन्न अवस्थाओं (Conditions) में रहने के कारण आत्मा नाना प्रकार की है।' (३।२।२०)। उस (जीवात्मा, की नित्यता भी श्रुतियों में प्रसिद्ध है—'यह ज्ञानी आत्मा न तो उत्पन्न होती है, न मरती है; न यह उत्पन्न ही हुई थी और अब उत्पन्न होगी भी नहीं। यह अज (न जन्म लेनेवाली), नित्य (न मरनेवाली), शाश्वत (जो कहीं से नहीं निकली—नायं कुतश्चित्) तथा पुरानी (कभी उत्पन्न जो नहीं हुई—न बभूव कश्चित्) है; शरीर के मारे जाने पर यह नहीं मारी जाती' (गी० २।२०, तथा कुछ परिवर्तनों के साथ—नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्—कठो० २।१८)।

विशेष—'द्वा सुपर्णा' का श्लोक सांख्य-दर्शन का मूल है तथा भारतीय-दर्शनों में महावाक्य के रूप में उद्धृत किया गया है। सुनते हैं कि नील-घाटी की खुदाई में इस श्लोक के भाव का एक चित्र भी प्राप्त हुआ है। पूरा श्लोक इस रूप में है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

प्रथम चार पदों में 'सुपां सुलुक्०' (पा० सू० ७।१।३९) से औ के स्थान

में डा (आ) हो गया है। द्वौ सुपर्णौ = जीव और ईश्वर, सुपर्ण का अर्थ पक्षी होता है जिसके सादृश्य के कारण यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार है। सयुजौ = समान गुणवाले, सखायौ = पाप नष्ट करना आदि गुणों के कारण ये आपस में समान हैं। वृक्ष = शरीर, क्योंकि वह भी वृक्ष के समान काटा जाता है। ये दोनों जीव और ईश्वर रूपी वृक्ष पर आश्रित हैं। उनमें एक (जीव) सुस्वादु पीपल का फल खाता है (कर्मफल का भोग करता है), दूसरा (ईश्वर) विना खाये हुए (कर्मफल से असंपृक्त होकर) ही देखता है (प्रकाशित होता है)। यहाँ वास्तविक विषय को निगलकर (दबाकर) सुवर्ण, वृक्ष आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है किन्तु अर्थ में उन्हे ही हटाना पड़ेगा—यह बहुत सुन्दर रूपकातिशयोक्ति है। इसकी ही व्याख्या भागवत में यों की गई है—

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नं स पिप्पलादो न तु पिप्पलादः॥
(११।११।६)।

श्लोक का भाव बहुत पुराना है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

'नानात्मानो व्यवस्थातः' का भाव है कि संसार में किसी को सुख मिलता है, किसी को दुःख, कोई बन्धन में है तो कोई मुक्त—इस प्रकार की व्यवस्थायें (विभिन्न अवस्थायें) प्राप्त होती हैं। इसीलिए जीवात्माओं को नाना प्रकार का मानते हैं, जीव एक नहीं है। तत्त्वावली में कहा है—

कश्चिद्रङ्कः कश्चिदाढ्यः कश्चिदन्यविधः पुनः।
अनयैवात्मनानात्वं सिध्यत्यत्र व्यवस्थया॥ (तत्त्वा० ९०)।

इस प्रकार जीवात्मा को **परमेश्वर से भिन्न, नाना प्रकार का** तथा नित्य माना गया है।

अपरथा कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः। अत एवोक्तम्—'वीतरागजन्मादर्शनात्' (न्या० सू० ३।१।२५) इति। तदणुत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम्—

११. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥
(श्वे० ५।९) इति।

'आराग्रमात्रः पुरुषः' (श्वे० ५।८), 'अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मुण्ड० ३।१।९) इति च।

यदि जीव को नित्य नहीं मानें (और जीव की उत्पत्ति और विनाश शरीर के साथ-साथ मानें) तो किये गये कर्म का नाश तथा नहीं किये गये कर्म के फल की प्राप्ति का संयोग हो जायगा। [कर्म करने के बाद शरीर के साथ ही जीव मर जायगा, फिर कर्म का तो नाश ही हो जायगा—चार्वाक-मत की सिद्धि होगी। जन्मान्तर का तो अभाव ही होगा, लेकिन जन्म लेते ही व्यक्ति को सुख, दुःख का फल मिलने लगता है। यह तो बिना किये कर्म का ही फल है। यदि इन बातों को स्वाभाविक मानते हैं तो चार्वाक का चेला बनें]

इसीलिए [गौतम ने न्यायसूत्र में] कहा है कि राग (Desire) से रहित व्यक्ति का जन्म नहीं होता (न्यायसूत्र ३।१।२५)। [इससे अनुमान लगता है राग से अनुबद्ध होकर ही प्राणी जन्म लेता है। राग तभी उत्पन्न होता है जब पहले से अनुभव किये गये विषयों का अनुचिन्तन किया जाय। पूर्वानुभव तभी हो सकता है जब दूसरे जन्म में विषयों का संसर्ग शरीर धारण करके किया गया हो। वही जीव पूर्व शरीर में अनुभूत विषयों का अनुस्मरण करता है तथा उनकी इच्छा करता है। यही दो जन्मों की प्रतिसन्धि है। इस शरीर में पहले शरीर से, उसमें भी उसके पहले के शरीर से—इस प्रकार अनादि काल से चेतन आत्मा का सम्बन्ध शरीर से रहा है। इसलिए जीव की नित्यता सिद्ध होती है।]

जीव का अणु होना भी श्रुतिवाक्यों में प्रसिद्ध है—'यदि केश के अग्रभाग का सौवाँ भाग भी सौ भाग में बँटा हुआ माना जाय तो इस छोटे भाग की तरह ही जीव (अणु) है, यह जीव ही मोक्ष की प्राप्ति (आनन्त्य Infinity) में समर्थ है' (श्वे० ५।९)। इसके अतिरिक्त भी कहा है—'पुरुष अरा (Spoke of a wheel) के अन्तिम खण्ड के आकार का है' (श्वे० ५।८), 'आत्मा अणु है, इसे चित्त (बुद्धि) से ही समझ सकते हैं' (मु० ३।१।९)।

(१६. ग, अचित् का निरूपण)

अचिच्छब्दवाच्यं दृश्यं जडं जगत्त्रिविधं भोग्य-भोगोपकरण-भोगायतनभेदात् ।

'अचित्' शब्द से सामने दिखलाई पड़नेवाले जड़ जगत् का बोध होता है जिसके तीन भेद हैं—भोग्य (विषय, जैसे शब्द आदि), भोग का उपकरण (साधन, जैसे इन्द्रियाँ) और भोग का आयतन (स्थान, जैसे शरीर)। [अचित् से रामानुज समूचे संसार का अर्थ लेते हैं जिसमें शरीर, इन्द्रियाँ और दृश्य पदार्थ, तीनों चले आते हैं।]

(१७. ईश्वर का निरूपण—उनकी पाँच मूर्तियाँ)

तस्य जगतः कर्तोपादानं चेश्वरपदार्थः पुरुषोत्तमो वासुदेवादिपदवेदनीयः । तदप्युक्तम्—

१२. वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः ।
भुवनानामुपादानं कर्ता जीवनियामकः ॥ इति ।

स एव वासुदेवः परमकारुणिको भक्तवत्सलः परमपुरुषस्तदुपासकानुगुणतत्तत्फलप्रदानाय स्वलीलावशादर्चा-विभव-व्यूह-सूक्ष्मान्तर्यामिभेदेन पञ्चधावतिष्ठते ।

उस [स्थूल] जगत् का रचयिता और उपादान कारण (Material cause) भी [प्रकृति के रूप में सूक्ष्मशरीरधारी] पुरुषोत्तम (परमात्मा) है जो ईश्वर शब्द का अर्थ है तथा जिसे वासुदेव आदि शब्दों के द्वारा जानते हैं। यह भी कहा गया है—'कल्याणकारी गुणों से भरे हुए वासुदेव ही परमब्रह्म (Supreme Absolute) हैं, वे भुवनों के उपादान कारण हैं, निर्माता हैं तथा जीवों के नियामक (Controller) हैं।'

वे ही वासुदेव सबसे अधिक दयालु, भक्तों से वात्सल्य-प्रेम रखनेवाले तथा सर्वोच्च पुरुष हैं, अपने उपासकों के गुण के अनुसार विभिन्न फल देने के लिए, अपनी लीला दिखलाते हुए वे अर्चा (Adoration), विभव (Emanation), व्यूह (Manifestation), सूक्ष्म (The Subtile) तथा अन्तर्यामी (Internal controller)—इन भेदों के कारण पाँच रूप में अवस्थित रहते हैं।

तत्रार्चा नाम प्रतिमादयः । रामाद्यवतारो विभवः । व्यूहश्चतुर्विधो वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धसंज्ञकः । सूक्ष्मं संपूर्णषड्गुणं वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म । गुणा अपहतपाप्मत्वादयः । 'सोऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।७।३) इति श्रुतेः । अन्तर्यामी सकलजीवनियामकः । 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' (बृ० मा० ३।७।२२) इति श्रुतेः ।

(१) **अर्चा**—प्रतिमा आदि को कहते हैं। [घर में या देव-मन्दिर में, चौराहे पर या खेत में देवता के रूप में पूजित-प्रतिष्ठित पत्थर, धातु आदि को

मूर्तियों को अर्चा कहते हैं। यह भी ईश्वर का ही एक रूप है। इन प्रतिमाओं को सूक्ष्म और दिव्यशरीरयुक्त परमात्मा अपना शरीर बना लेता है। यहाँ ईश्वर अर्चक के अधीन स्नान, भोजन, आसन, शयन आदि भी करता है, यह सर्व-सहिष्णु है। कहीं-कहीं अर्चायें स्वयं प्रकट होती हैं, कहीं देवताओं, मनुष्यों या सिद्ध पुरुषों के द्वारा स्थापित होती हैं।]

(२) **विभव**—राम आदि के रूप में अवतार को कहते हैं। [विभव दो तरह का होता है मुख्य और गौण। मुख्य विभव वह है जब परमात्मा स्वेच्छा से विशेष भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए साक्षात् प्रकट होते हैं। गौण विभव में आवेश के रूप में अवतार होता है। जीवाधिष्ठित शरीर में कोई विशेष कार्य सिद्ध करने के लिए परमात्मा अपने रूप से या शक्ति से प्रविष्ट हो जाता है। परशुराम आदि में स्वरूप से ही आवेश (Entrance) होता है। शक्ति के द्वारा आवेश विधि, शिव आदि चेतन रूपों में होता है। मत्स्य, कूर्म आदि दस अवतार विभव ही हैं। मुख्य विभवों की उपासना मोक्ष चाहनेवालों को करनी चाहिए क्योंकि ये विभव दीप से जले दीप की तरह हैं। विधि, शिव, अग्नि, परशुराम, व्यास आदि गौण विभवों की पूजा भोगेच्छु लोग ही करें।]

(३) **व्यूह**—चार प्रकार का है, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। [उपासना करने के लिए तथा संसार की सृष्टि आदि के लिए परमात्मा ही चार प्रकारों से अवस्थित है। वासुदेव ज्ञान, ऐश्वर्य आदि उपयुक्त छह गुणों से पूर्ण हैं। ज्ञान और बल से युक्त संकर्षण होते हैं। प्रद्युम्न ऐश्वर्य और वीर्य से युक्त हैं और अनिरुद्ध में शक्ति तथा तेज है (दे० अनु० १६ क.)। स्मरणीय है कि संकर्षणादि में अपने दो गुणों के अतिरिक्त भी चारों गुण रहते है पर वे अप्रकाशित हैं—दो गुण व्यक्त (Patent) रहते हैं। संकर्षण का कार्य है—शास्त्र का प्रवर्तन करना और संहार। प्रद्युम्न धर्मप्रचार और सृष्टि करते हैं, अनिरुद्ध तत्त्वनिरूपण और रक्षण के अधिकारी हैं। कभी-कभी आद्य व्यूह (श्रीवासुदेव) में छहों गुण देखकर दूसरे व्यूहों से अभेद बतलाकर तीन व्यूहों का ही प्रतिपादन किया जाता है।]

(४) **सूक्ष्म**—छहों गुणों से परिपूर्ण वासुदेव नाम के परमब्रह्म को कहते हैं। गुणों से अभिप्राय है, जिसके पाप नष्ट हो गये हैं, इत्यादि। श्रुतिवाक्य भी है—'वह (परमात्मा) पापरहित, जराहीन, मृत्युहीन, शोकहीन, भूख से रहित तथा प्यास से रहित है, सत्य ही उसकी कामना है और सत्य ही सङ्कल्प (Resolution) भी है' (छा० ८।७।३)। [सूक्ष्म रूप में अवस्थित परमात्मा नारायण हैं, वैकुण्ठ पुरी के निवासी हैं, दिव्यालय में महामणिमण्डप

से युक्त सिंहासन में शेषनाग को पलङ्ग बनाकर बैठते हैं, दिव्य, कल्याणकारी विग्रह (शरीर) धारण करते हैं, लक्ष्मी के साथ हैं, चतुर्भुज होकर शङ्ख, चक्रादि दिव्य आयुधों से भरे हुए, अनन्त गरुडादि के द्वारा उपास्य हैं। मुक्त लोग इन्हें प्राप्त करते हैं ।]

(५) अन्तर्यामी—ये सभी जीवों का नियमन (Control) करते हैं। वेदवाक्य भी है—'जो आत्मा में स्थित होकर भीतर से ही आत्मा को नियन्त्रित करता है' बृ० मा० ३।७।२२) [जीवात्मा के हृदय में मित्र के रूप में अवस्थित परमात्मा ही अन्तर्यामी है। योगी लोग इसे देख पाते हैं। यद्यपि यह जीव के साथ है पर जीव के दोषों से बचा रहता है। यही अन्तःकरण या घट-घट का अन्तर्यामी परमात्मा है जो सभी मनुष्यों को अच्छे-बुरे काम में प्रवृत्त और निवृत्त करता है।]

तत्र पूर्वपूर्वमूर्त्युपासनया पुरुषार्थपरिपन्थिदुरितनिचयक्षये सत्युत्तरोत्तरमूर्त्युपास्त्यधिकारः । तदुक्तम्—

१३. वासुदेवः स्वभक्तेषु वात्सल्यात्तत्तदीहितम् ।
अधिकार्यानुगुण्येन प्रयच्छति फलं बहु ॥
१४. तदर्थं लीलया स्वीयाः पञ्चमूर्त्तीः करोति वै ।
प्रतिमादिकमर्चा स्यादवतारास्तु वैभवाः ॥

इनमें हरेक पहली मूर्ति की उपासना से पुरुषार्थ में बाधा पहुंचानेवाले पापों के समूह का विनाश हो जाता है, और तब भक्त को हर दूसरी मूर्त्ति की उपासना का अधिकार प्राप्त होता है। [अर्चा के बाद ही विभव की उपासना हो सकती है और तब ही व्यूह की—इसी क्रम से उपासना का अधिकार प्राप्त होता है। एक-एक मूर्त्ति की उपासना से कुछ-न-कुछ पाप कट ही जाते हैं।]

यही कहा है—'अपने भक्तों पर वात्सल्य-प्रेम रखने के कारण, वासुदेव, अपने प्रत्येक भक्त की कामनाओं की पूर्त्ति, अधिकारियों के गुण के आग्रह से, करते हैं और बहुत फल देते हैं ॥ १३ ॥ इसीलिए लीला दिखाते हुए वे अपनी पाँच मूर्तियाँ रखते हैं—प्रतिमादि को **अर्चा** कहते हैं, अवतार **विभव** से सम्बद्ध हैं ॥ १४ ॥

१५. संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः ।
व्यूहश्चतुर्विधो ज्ञेयः सूक्ष्मं सम्पूर्णषड्गुणम् ॥

१६. तदेव वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म निगद्यते ।
अन्तर्यामी जीवसंस्थो जीवप्रेरक ईरितः ॥
१७. य आत्मनीति वेदान्तवाक्यजालैर्निरूपितः ।
अर्चोपासनया क्षिप्ते कल्मषेऽधिकृतो भवेत् ॥
१८. विभवोपासने पश्चाद् व्यूहोपास्तौ ततः परम् ।
सूक्ष्मे तदनु शक्तः स्यादन्तर्यामिणमीक्षितुम् ॥ इति ।

'संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस प्रकार व्यूह चार प्रकार का समझें । छहों गुणों से परिपूर्ण (मूर्ति) को **सूक्ष्म** कहते हैं, इसे ही वासुदेव नामक परब्रह्म कहते हैं। **अन्तर्यामी** जीव में स्थित जीव के प्रेरक के रूप में समझा जाता है ॥ १५-१६ ॥ 'जो आत्मा में ···' इस प्रकार के वेदान्त (उपनिषद्)—वाक्यों के समूह से वह निरूपित होता है । अर्चा की उपासना करने से पाप के नष्ट हो जाने पर, भक्त, विभव की उपासना का अधिकार पाता है । बाद में व्यूह की उपासना में अधिकृत होता है, तब सूक्ष्म की उपासना में । उसके बाद ही भक्त अन्तर्यामी को देखने की शक्ति पा सकता है ॥ १७-१८ ॥'

(१८. उपासना के पाँच प्रकार और मुक्ति)

तदुपासनं च पञ्चविधमभिगमनमुपादानमिज्या स्वाध्यायो योग इति श्रीपञ्चरात्रेऽभिहितम् । तत्राभिगमनं नाम देवतास्थानमार्गस्य संमार्जनोपलेपनादि । उपादानं गन्धपुष्पादिपूजासाधनसंपादनम् । इज्या नाम देवतापूजनम् । स्वाध्यायो नाम अर्थानुसंधानपूर्वको मन्त्रजपो वैष्णवसूक्तस्तोत्रपाठो नामसंकीर्त्तनं तत्त्वप्रतिपादकशास्त्राभ्यासश्च । योगो नाम देवतानुसंधानम् ।

उस (ईश्वर) की उपासना पाँच प्रकार की होती है—अभिगमन (Access), उपादान (Preparation), इज्या (Oblation), स्वाध्याय (Recitation) और योग (Devotion), ऐसा श्रीपंचरात्र नामक ग्रन्थ (लेखक अज्ञात, प्राचीन ग्रन्थ) में लिखा है ।

देव मन्दिर के रास्ते को साफ करना, लीपना आदि **अभिगमन** है । गन्ध, फूल आदि पूजा की सामग्रियों को एकत्र करना **उपादान** है । देवता की पूजा करना **इज्या** है । अर्थ पर ध्यान रखते हुए मन्त्रों का जप करना, वैष्णव सूक्तों और स्तोत्रों का पाठ करना, नाम का कीर्त्तन करना तथा तत्त्व का प्रतिपादन

करने वाले शास्त्रों का अभ्यास करना स्वाध्याय कहलाता है। देवता का ध्यान करना योग है।

एवमुपासनाकर्मसमुच्चितेन विज्ञानेन द्रष्टृदर्शने नष्टे भगवद्भक्तस्य तन्निष्ठस्य भक्तवत्सलः परमकारुणिकः पुरुषोत्तमः स्वयाथात्म्यानुभवानुगुणनिरवधिकानन्दरूपं पुनरावृत्तिरहितं स्वपदं प्रयच्छति। तथा च स्मृतिः—

१९. मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
(गी० ८।१५) इति।

२०. स्वभक्तं वासुदेवोऽपि संप्राप्यानन्दमक्षयम्।
पुनरावृत्तिरहितं स्वीयं धाम प्रयच्छति॥ इति च।

इस प्रकार उपासनारूपी कर्म से परिपूर्ण [अन्तर्यामी के] ज्ञान से जब जीव (द्रष्टा) का अपने कर्मों को देखना समाप्त हो जाता है, तब ईश्वर में निष्ठा रखने वाले भगवान् के भक्त को, भक्तवत्सल, परम दयालु पुरुषोत्तम अपना वह पद देते हैं जिसमें ईश्वर के यथार्थ रूप का अनुभव करने के अनुरूप अपरिमित आनन्द प्राप्त होता है और जहाँ से फिर आवृत्ति (Return) नहीं होती है। स्मृतियों में ऐसी ही बात है—'मुझे पाकर महात्मा लोग पुनर्जन्म-रूपी अस्थिर दुःख-भाण्डार मे प्रवेश नहीं करते हैं, वे सबसे ऊँची सिद्धि पा लेते हैं (गीता ८।१५)।' इसी प्रकार—'वासुदेव भी अपने भक्त को पाकर अक्षय-आनन्द के रूप में अपना स्थान प्रदान करते हैं जहाँ से फिर लौट कर आना नहीं है।'

विशेष—यह स्वाभाविक है कि जीव अपने आप को देखता है, उसकी यह दृष्टि बन्द हो जाती है। जीव का अपने रूप को देखना मोक्ष का प्रतिबन्धक है। बृहदारण्यकोपनिषद् (३।४।२) में कहा है—न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः अर्थात् दृष्टि करने वाले को मत देखो। जीव को अपने रूप को देखना नहीं चाहिए। फिर 'आत्मानं विद्धि' (अपने को पहचानो) का कैसे अर्थ होगा? यह स्मरण रखना है कि दर्शन करने वाला (द्रष्टा) जीव है जब कि दर्शन किया जाने वाला (द्रष्टव्य) परमात्मा है जो जीव के अन्तर में निवास करता है। 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' में जीव का अपने रूप से पृथक् अन्तरात्मा को देखने आदि का विधान है। जीव इन्द्रियों के अधीन दर्शन-शक्ति प्राप्त करते हैं उन जीवों को देखना नहीं चाहिएं, प्रत्युत उनके अन्तर्गत विराजमान, विभु, अन्तर्यामी परमात्मा

को देखें। स्वान्तरात्मा को देखें, जीव को नहीं क्योंकि यह तो साँस लेता है। इसलिए 'द्रष्टृदर्शने नष्टे' का अर्थ है कि जब जीव अपने आप को या अपने कर्मों को देखना बन्द कर देता है, उसकी यह स्वाभाविक शक्ति नष्ट हो जाती है तब भगवान् अपने धाम में उसे प्रविष्ट कराते हैं।

(१९. ब्रह्मसूत्र की व्याख्या—प्रथम सूत्र)

तदेतत्सर्वं हृदि निधाय महोपनिषन्मतावलम्बनेन भगवद्बोधायनाचार्यकृतां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं विस्तीर्णामालक्ष्य रामानुजः शारीरकमीमांसाभाष्यमकार्षीत्। तत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इति प्रथमसूत्रस्यायमर्थः—अत्राथशब्दः पूर्ववृत्तकर्माधिगमनानन्तर्यार्थः। तदुक्तं वृत्तिकारेण—वृत्तात्कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्म विविदिषतीति।

तो उपर्युक्त सारी बातों को हृदय में बैठाकर, बड़ी-बड़ी (मुख्य) उपनिषदों के मतों का आश्रय लेते हुए, भगवान् बोधायनाचार्य की लिखी हुई ब्रह्मसूत्र की वृत्ति को बहुत विशालकाय देखकर रामानुज ने शारीरक-मीमांसा के ऊपर भाष्य (श्रीभाष्य) लिखा।

इसमें 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—'अथ' का अर्थ है, अभी तक जिन कर्मों का वर्णन [मीमांसासूत्र में] किया गया है उनको समझ लेने के बाद। वृत्तिकार ने कहा ही है—'अभी तक वर्णित कर्मों को समझने के बाद ही ब्रह्म को जानना चाहता है।'

विशेष—रामानुज के श्रीभाष्य लिखने के पूर्व भी विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त था। विशेषकर विष्णुपुराण पर ही यह सम्प्रदाय अवलम्बित था जिसकी साम्प्रदायिक टीका श्रीनाथमुनि ने की थी। बोधायन और टंकाचार्य ने ब्रह्मसूत्र की वृत्तियाँ लिखीं तथा द्रमिडाचार्य ने भाष्य लिखा था। रामानुज ने इन मतों का मन्थन करके एक सुन्दर रीति से सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, यही उनका अवदान है। रामानुज का समय है १०१९ से ११३९ ई० जब कि ईसा के पूर्व से ही महाभारत, पञ्चरात्र आदि ग्रन्थों से यह सम्प्रदाय पुष्पित-पल्लवित हो रहा था।

'अथ' (इसके बाद) अपने साथ कुछ आकांक्षा रखता है कि किसके बाद? दो मीमांसाओं के बीच में इसका प्रयोग बतलाता है कि ब्रह्म की जिज्ञासा कर्मों की मीमांसा के अनन्तर ही होती है।

अतःशब्दो हेत्वर्थः। अधीतसाङ्गवेदस्याधिगततदर्थस्य

विनश्वरफलात्कर्मणो विरक्तत्वाद् हेतोः स्थिरमोक्षाभिलाषुकस्य तदुपायभूतब्रह्मजिज्ञासा भवति। ब्रह्मशब्देन स्वभावतो निरस्त-समस्तदोषानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणः पुरुषोत्तमोऽ-भिधीयते।

एवं च कर्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य च वैराग्योत्पादनद्वारा चित्तकल्मषापनयद्वारा च ब्रह्मज्ञानं प्रति साधनत्वेन तयोः कार्यकारणत्वेन पूर्वोत्तरमीमांसयोरेकशास्त्रत्वम्। अत एव वृत्ति-काराः—'एकमेवेदं शास्त्रं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन' इत्याहुः।

'अतः' (इसलिए) का प्रयोग हेतु के अर्थ में हुआ है। अर्थ होगा—जो व्यक्ति अङ्गों के साथ वेदों को पढ़ चुका है, वह नश्वर फल रखने वाले कर्मों के सम्पादन से विरक्त हो जाता है; यही कारण है कि स्थिर (अनश्वर) मोक्ष की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है क्योंकि यही उस (मोक्षप्राप्ति) का उपाय है। यह स्वाभाविक है कि 'ब्रह्म' शब्द से उस पुरु-षोत्तम का बोध हो जो सारे दोषों से रहित है, अवधिहीन (unlimited) विशेषताओं से युक्त है तथा असंख्य कल्याणकारी गुणों से भरा है।

इस प्रकार कर्मों का ज्ञान और उनके अनुष्ठान [मन में कर्मों की ओर से] वैराग्य उत्पन्न कर देते हैं तथा मन के सारे पापों का भी नाश कर देते हैं। इस लिए ब्रह्मज्ञान के लिए ये साधनस्वरूप हैं। फल यह हुआ कि कार्य (ब्रह्मज्ञान) और कारण (कर्म और अनुष्ठान) के रूप में इन दोनों पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा में एकशास्त्रता (संगति Continuity) सिद्ध हो जाती है। [दोनों का नाम मीमांसा ही है, एक पूर्व है, दूसरी उत्तर—इससे भी दोनों की एक-शास्त्रता जानी जाती है।] इसीलिए वृत्ति के रचयिता (बोधायन) का कहना है कि षोडश अध्यायों (जैमिनि के १२ अध्याय तथा संकर्षकाण्ड के चार अध्याय १६ अध्याय) में लिखे गये जैमिनि-रचित मीमांसासूत्र से यह शास्त्र एक (मिला हुआ, एक = संयुक्त is one with) है।

(१९ क. कर्म के साथ ब्रह्म का ज्ञान मोक्ष का साधन है)

कर्मफलस्य क्षयित्वं ब्रह्मज्ञानफलस्य चाक्षयित्वं 'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' (मु० १।२।१२) इत्यादिश्रुतिभिरनुमानार्थापत्त्युपबृंहिताभिः प्रत्य-

पादि। एकैकनिन्दया कर्मविशिष्टस्य ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वं दर्शयति श्रुतिः—

२१. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
(बृ० ४।४।१० तथा ई० ९)

२२. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥
(ई० ११) इत्यादि।

'कर्म से प्राप्त (स्वर्गादि) लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्य प्राप्त कर ले क्योंकि अकृत (नित्य Inartificial, genuine, परमात्मा) की प्राप्ति कृत (कर्म) से नहीं होती' (मुण्डक० १।२।१२) इस प्रकार की श्रुतियों की महत्ता अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाणों से और भी बढ़ाकर इनके द्वारा कर्मों के फल को नश्वर और ब्रह्मज्ञान के फल को अक्षय दिखलाया गया है।

एक-एक की (केवल कर्म की या केवल ज्ञान की) निन्दा करके कर्म से विशिष्ट (युक्त) ज्ञान को ही श्रुति मोक्ष का साधन बतलाती है—'जो अविद्या (ज्ञान से भिन्न, केवल कर्म) की उपासना करते हैं वे लोग घनघोर अन्धकार (नरक) में प्रवेश करते हैं। जो केवल विद्या (ज्ञान) में रत हैं वे तो और भी घने अन्धकार में पड़ते हैं।' (बृ० ४।४।१०, ई० ९)। 'विद्या (ज्ञान) तथा अविद्या (कर्म) दोनों को साथ-साथ जो व्यक्ति जानता है वह अविद्या से मृत्यु (ज्ञानोत्पत्ति का प्रतिबन्धक, पुण्य-पापरूपी प्राक्तन कर्म) को पारकर विद्या (परमात्मा की उपासना) से अमृत (मोक्ष) प्राप्त करता है' (ई० ११)।

विशेष—कर्मफल की नश्वरता तथा ब्रह्मज्ञान के फल की स्थिरता का प्रतिपादन करनेवाली अन्य श्रुतियाँ हैं—तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते (छा० ८।१।६); अन्तवदेवास्य तद्भवति (बृ० ३।८।१०), न ह्यध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवं कर्मभिः (का० २।१०)। इस विषय में अनुमान इस प्रकार होगा—(१) कर्मफल नश्वर है, क्योंकि यह उत्पन्न होता है (हेतु) जैसे घटादि (उदाहरण)। (२) ब्रह्मज्ञान का फल अविनाशी है, क्योंकि यह उत्पन्न नहीं होता जैसे आत्मा। अर्थापत्ति प्रमाण से भी यह सिद्ध होगा—शुक, वामदेव आदि ने अपने कर्मों का त्याग किया था, यदि हम कर्मफल की नश्वरता नहीं मानें तो उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। २१वें श्लोक में

केवल कर्म या केवल ब्रह्मज्ञान की निन्दा की गई है, २२वें में दोनों का अंगांगि-सम्बन्ध दिखलाया गया है।

तदुक्तं पाञ्चरात्ररहस्ये—

२३. स एव करुणासिन्धुर्भगवान्भक्तवत्सलः।
उपासकानुरोधेन भजते मूर्तिपञ्चकम्॥

२४. तदर्चाविभवव्यूहसूक्ष्मान्तर्यामिसंज्ञकम्।
यदाश्रित्यैव चिद्वर्गस्तत्तज्ज्ञेयं प्रपद्यते॥

२५. पूर्वपूर्वोदितोपास्तिविशेषक्षीणकल्मषः।
उत्तरोत्तरमूर्तीनामुपास्त्यधिकृतो भवेत्॥

२६. एवं ह्यहरहः श्रौतस्मार्तधर्मानुसारतः।
उक्तोपासनया पुंसां वासुदेवः प्रसीदति॥

पाञ्चरात्ररहस्य में कहा है—'वे ही भगवान् जो दया के समुद्र तथा भक्तों पर वात्सल्य-प्रेम रखनेवाले हैं, उपासकों या भक्तों के आग्रह से पाँच प्रकार की मूर्तियाँ धारण करते हैं ॥ २३ ॥ वे हैं, अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म तथा अन्तर्यामी, जिनका आश्रय लेकर जीवों का समूह क्रमशः ज्ञान की अवस्थाओं को प्राप्त करता है ॥ २४ ॥ मनुष्य के पाप उक्त मूर्तियों में हर पहली मूर्ति की उपासना से नष्ट होते जाते हैं और भक्त उधर हर दूसरी मूर्ति की उपासना का अधिकारी बनते जाता है ॥ २५ ॥ इस प्रकार श्रुतियों और स्मृतियों मे कहे गये धर्मों (कर्तव्यों) के अनुसार उपर्युक्त [मूर्तियों की] उपासना से मानवों पर वासुदेव भगवान प्रसन्न होते हैं ॥ २६ ॥

२७. प्रसन्नात्मा हरिर्भक्त्या निदिध्यासनरूपया।
अविद्यां कर्मसङ्घातरूपां सद्यो निवर्तयेत्॥

२८. ततः स्वाभाविकाः पुंसां ते संसारतिरोहिताः।
आविर्भवन्ति कल्याणाः सर्वज्ञत्वादयो गुणाः॥

२९. एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च।
सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्यो देवे विशिष्यते॥

३०. मुक्तास्तु शेषिणि ब्रह्मण्यशेषे शेषरूपिणः।
सर्वानश्नुवते कामान्सह तेन विपश्चिता॥ इति।

'निदिध्यासन (ध्यान Meditation) के रूप में भक्ति रखने पर हरि प्रसन्न हो जाते हैं तथा कर्मों के समूह के रूप में जो अविद्या है उसे तुरत नष्ट कर देते हैं । २७ ॥ उसके बाद संसार (आवागमन) को नष्ट कर देने वाले कल्याणकारी सर्वज्ञत्व आदि गुण प्रकट होते हैं जो मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से हैं ॥ २८ ॥ इस प्रकार मुक्तों और ईश्वर के सारे गुण समान हो जाते हैं, केवल एक गुण ईश्वर में विशेष है—सबों का निर्माण करना (नियमन करना भी इसी में है) ॥ २९ ॥ अशेष (जो किसी का अंग नहीं है, Absolute पूर्ण) शेषी (अंगी) में शेष (अंग) के रूप में ये मुक्त पुरुष हो जाते हैं (ब्रह्म में उसके अंग के रूप में मिल जाते हैं) । उस ज्ञानमय ब्रह्म के साथ-साथ उसके सभी गुणों की भी प्राप्ति ये (मुक्त) लोग करते हैं ॥ ३० ॥

विशेष—मुक्त पुरुषों और ईश्वर में सभी गुणों की समानता होने पर भी कुछ विलक्षणता रह ही जाती है । जीव किसी भी अवस्था में (मुक्त होने पर भी) ईश्वर के समान संसार का निर्माण तथा चित्-अचित् का नियन्त्रण नहीं कर सकता । इसी आशय से व्यास ने ब्रह्मसूत्र में लिखा है—**जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च** (४।४।१७–१८) जडपदार्थ की उत्पत्ति, पालन और संहार तथा चित्-अचित् का नियमन करना, यह जगत् का व्यापार है । इन्हें छोड़कर ही मुक्त पुरुष में ईश्वरता (ऐश्वर्य) आती है । कारण यह है कि कुछ श्रुतिवाक्यों में ऐसे प्रकरण आये हैं जैसे—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते० (तै० ३।१), यः पृथिवीमन्तरो यमयति (बृ० ३।७।३) इत्यादि । पहली श्रुति में पदार्थों की उत्पत्ति आदि का उल्लेख है, दूसरी में ईश्वर की नियामक-शक्ति का । इसके अतिरिक्त उपर्युक्त व्यापार में मुक्त पुरुष का सन्निधान भी नहीं । अतः मुक्त की ईश्वरता सीमित है ।

३०वें श्लोक में ब्रह्म को शेषी अर्थात् अंगी कहा गया है क्योंकि चित् और अचित् इसके अंग हैं । ईश्वर स्वयं में पूर्ण है, किसी का अंग नहीं है, इसलिए उसे अशेष कहा गया है । ये मुक्त पुरुष उसका अंग बन जाते हैं । अन्तिम पंक्ति के दो अर्थ हो सकते हैं - एक में 'विपश्चिता' को अप्रधान कर्ता बना सकते हैं, दूसरे में अप्रधान कर्म । तृतीया विभक्ति में सह का प्रयोग बतलाता है कि वह शब्द अप्रधान हो जायगा । यदि यह अप्रधान कर्ता है तब मुक्तों की प्रधानता रहेगी—मुक्ताः तेन ईश्वरेण सह, सर्वान् कामान् (ईश्वरगुणान्) प्राप्नुवन्ति । मुक्त लोग प्रधानतः प्राप्त करते हैं, ईश्वर गौणतः । इसमें दोष होता है कि ईश्वर से मुक्तों को अधिक ऊँचा स्थान मिला । दूसरी ओर यदि यह अप्रधान कर्म बन जाय तो सारी बात सहल है—मुक्त पुरुष ईश्वर के गुणों की प्राप्ति प्रधानतः करते हैं, साथ-साथ ईश्वर की प्राप्ति भी करते हैं । अप्रधान कर्म बन जाने पर

ईश्वर की महत्ता में कुछ कमी नहीं हुई, बल्कि ईश्वर से उसके गुणों का माहात्म्य अधिक दिखलाया गया है। यह अच्छा ही है।

(२०. ब्रह्म-जिज्ञासा का अर्थ)

तस्मात्तापत्रयातुरैरमृतत्वाय पुरुषोत्तमादिपदवेदनीयं ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तं भवति। 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थप्राधान्येन सह ब्रूत इतः सनोऽन्यत्र' इति वचनबलादिच्छाया इष्यमाणप्रधानत्वादिष्यमाणं ज्ञानमिह विधेयम्। तच्च ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं वेदनं न तु वाक्यजन्यमापातज्ञानम्। पदसन्दर्भश्राविणो व्युत्पन्नस्य विधानमन्तरेणापि प्राप्तत्वात्।

इसलिए तीन प्रकार के तापों से व्याकुल पुरुषों को अमरत्व (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए पुरुषोत्तम आदि शब्दों के द्वारा बोधित ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए—यही कहने का मतलब है। [सन्-प्रत्यय के प्रकरण में पढ़ा गया व्याकरणशास्त्र का यह नियम है कि] इस सन्-प्रत्यय के प्रकरण को छोड़कर दूसरे स्थानों में जब प्रकृति (धातु या प्रातिपदिक Root, stem) और प्रत्यय (Suffix) मिलकर अर्थ का प्रकाशन करते हैं तब प्रत्यय के अर्थ की प्रधानता समझी जाती है—इस वाक्य के बल से ['जिज्ञासा' (√ज्ञा=जानना, सन्प्रत्यय=इच्छा करना) शब्द में, जहाँ प्रत्यय इच्छा के अर्थ में है] इच्छा की प्रधानता नहीं है, बल्कि इष्ट वस्तु की प्रधानता होती है। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में इच्छा किया जानेवाला (अभीष्ट Desired) ज्ञान ही विधेय के रूप में है। [जिज्ञासा का अर्थ 'ज्ञानविषयक इच्छा' नहीं है, बल्कि 'इच्छा का विषय ज्ञान' है—इच्छा (प्रत्ययार्थ) की प्रधानता नहीं है, ज्ञान (प्रकृति) ही प्रधान है, ऐसा सन्-प्रत्यय का नियम है।]

उस ज्ञान का बोध ध्यान, उपासना आदि शब्दों के द्वारा होता है, न कि केवल वाक्य का श्रवण करने के बाद ही उत्पन्न अर्थज्ञान। व्युत्पन्न पुरुष पदों का सन्दर्भ (Context) सुनकर ही, बिना किसी विधान (Injunction) के ही, उनका अर्थ समझ लेता है। [कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म का ज्ञान केवल वाक्यों को सुनकर उनका अर्थ समझ लेने से नहीं होता जैसा कि लौकिक ज्ञान में होता है। भूगोल में पढ़ते हैं कि कोलम्बो लंका की राजधानी है और हमें इसका ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म के ज्ञान में ऐसी बात नहीं है। ध्यान, उपासना आदि को ब्रह्म-ज्ञान कहते हैं, केवल ऊपरी ज्ञान को नहीं। यदि ऐसा

नहीं होता तो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में किया गया ज्ञान का विधान व्यर्थ ही था। लौकिक वाक्यों में दिये गये ज्ञान के बाद यह नहीं कहा जाता है कि इस वाक्य को जानना चाहिए, विधान नहीं होता है। व्युत्पन्न पुरुष प्रसंग देखकर अपने आप समझ लेते हैं। पर यहाँ ब्रह्म के ज्ञान का विधान है इसलिए यह साधारण ज्ञान नहीं--उपासना आदि के रूप में यहां यह ज्ञान है जिसके लिए विधि दी गई है।]

विशेष—ताप तीन प्रकार के हैं – आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आत्मा के यहाँ दो अर्थ हैं शरीर और अन्तःकरण। शरीर में भूख-प्यास के रूप में धातुओं के प्रकोप से ज्वर होना, अतिसार आदि **आध्यात्मिक** ताप हैं। अन्तःकरण में उत्पन्न काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद, संशय आदि से उत्पन्न कष्ट भी आध्यात्मिक ही हैं। भूत=माँ के पेट से जन्म लेने वाले (जरायु-ज), अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज (वनस्पति) के रूप में चोर, वैरी सिंह, बाघ, पक्षी, साँप, जोंक, पेड़-पौधे आदि। इनसे होने वाले कष्ट **आधिभौतिक** हैं, देव=यक्ष आदि स्वर्ग के निवासी, हवा, पानी, धूप, शीत, गर्मी आदि। इनसे होने वाले ताप **आधिदैविक** हैं।

व्याकरण में प्रकृति-प्रत्यय के योग से पद बनता है, प्रकृति का भी कुछ अर्थ रहता है (अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् तथा दधाति अर्थानिति धातुः), प्रत्यय का भी। किन्तु प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान होता है—दशरथ + इञ् (अपत्यार्थक प्रत्यय)=दशरथ के पुत्र (दाशरथिः)। दशरथ की मुख्यता नहीं है, अपत्य ही मुख्य है। गम् + तिप् (लकार-वचन-पुरुष विशिष्ट प्रत्यय)=गच्छति, गमनानुकूलक व्यापार से अधिक मुख्य प्रत्ययांश है जिसमें लकार (वर्तमान काल), एकवचन तथा प्रथमपुरुष की विशेषता व्यक्त होती है। प्रत्यय की प्रधानता सन् के प्रकरण में नहीं होती है। यही कारण है कि 'जिज्ञासा' शब्द में इच्छा को दबाकर ज्ञान प्रधान हो गया है।

ज्ञान का अर्थ श्रवण मनन, उपासना आदि है इसे व्यक्त करने के लिए श्रुतिवाक्य उद्धृत किये जा रहे हैं।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५), 'आत्मत्येवोपासीत' (बृ० १।४।७), 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ४।४।२१), 'अनुविद्य विजानाति' (छा० ८।७।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अत्र 'श्रोतव्यः' इत्यनुवादः। अध्ययनविधिना साङ्गस्य

स्वाध्यायस्य ग्रहणेऽधीतवेदस्य पुरुषस्य प्रयोजनवदर्थदर्शनात्त-न्निर्णयाय स्वरसत एव श्रवणे प्रवर्तमानतया तस्य प्राप्तत्वात् ।

'सचमुच आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, मनन करना चाहिए, ध्यान लगाना चाहिए' (बृहदारण्यको० २।४।५), 'आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए' (वही, १।४।७), '[श्रवण और मनन से आत्मा को] जानकर प्रज्ञा (निदिध्यासन) करें' (वही, ४।४।२१), '[श्रवण और मनन के द्वारा] जानकर ही विशेष ज्ञान प्राप्त करे' (छा० ८।७।१) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से [यह सिद्ध होता है कि ज्ञान का अर्थ श्रवण, मनन, उपासना आदि है] ।

यहाँ 'श्रोतव्य' शब्द व्याख्यात्मक है । अध्ययन का विधान करने वाले वाक्य (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) से अङ्गों के साथ [वेदों के] स्वाध्याय का ग्रहण होता है (ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च) । इसलिए जो पुरुष वेदों का अध्ययन कर लेता है वह अपने आप (स्वरसतः) ही वेदों को सप्रयोजन (सार्थक useful) समझते हुए, उनमें अर्थ देख कर, अर्थ का निर्णय करने के लिए श्रवण (गुरुमुख से वेदार्थ को सुनने) में प्रवृत्त होता है । अतः [ज्ञान में श्रवण की] प्राप्ति होती है । [ज्ञान में श्रवण का अर्थ कैसे होता है, इसे ही समझा रहे हैं । 'ब्राह्मणेन निष्कारणो०' वाले उद्धरण में छह अङ्गों के साथ वेदों के अध्ययन और ज्ञान का विधान है । अध्ययन (अक्षर-ग्रहण) के बाद जब वेदार्थज्ञान की आवश्यकता होती है तब गुरुमुख से सुनना ही पड़ता है, अतः श्रवण के बिना ज्ञान नहीं होता ।]

मन्तव्य इति चानुवादः । श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वेन मननस्यापि प्राप्तत्वात् । अप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति न्यायात् । ध्यानं च तैल-धारावदविच्छिन्नस्मृतिसंतानरूपम् । 'ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिप्रति-लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष' इति ध्रुवायाः स्मृतेरेव मोक्षोपायत्व-श्रवणात् । सा च स्मृतिर्दर्शनसमानाकारा ।

'मनन करना चाहिए' यह भी व्याख्यात्मक शब्द है । श्रवण को दृढता से प्रतिष्ठित करने के लिये मनन की प्राप्ति भी आवश्यक है । इसके लिए एक नियम है कि जब तक [मनन की] प्राप्ति नहीं होती, तब तक शास्त्र सार्थक (केवल अर्थयुक्त, विशेष कुछ नहीं) रहता है । तेल की धारा के समान स्मरण की अविच्छिन्न (unbroken) परम्परा को ध्यान कहते हैं । [जब स्मृति को

परम्परा बीच में न टूटे, चाहे दूसरे प्रकार की—विजातीय स्मृतियाँ लाख व्यवधान डालती हों, तब उसे ध्यान (Meditation) कहते हैं ।] 'ध्रुवा स्मृति' (निरन्तर परमात्मा का ध्यान) वह है जिसमें स्मृति निरन्तर रहती है (प्रतिलम्भ), और सभी ग्रन्थियों (कर्मों, पापों, संशयों) का मोक्ष हो जाता है—इस प्रकार ध्रुवा स्मृति (Continued Remembrance) को ही मोक्ष का उपाय कहते हैं, ऐसा सुना जाता है। यह (ध्रुवा) स्मृति दर्शन के ही समान आकार धारण करती है (दर्शन शब्द से ध्यान का भी बोध हो जाता है।)।

विशेष—इस प्रकार यह सिद्ध किया गया कि दर्शन या ज्ञान में श्रवण, मनन और ध्यान तीनों चले आते हैं। दर्शन और ध्यान में एकता का प्रदर्शन करने वाला श्लोक नीचे दिया जा रहा है।

३१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥
(मु० २।२।८)

इत्यनेनैकवाक्यत्वात्। तथा च 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५) इत्यनेनास्या दर्शनरूपता विधीयते। भवति च भावनाप्रकर्षात्स्मृतेर्दर्शनरूपत्वम्। वाक्यकारेणैतत्सर्वं प्रपञ्चितं 'वेदनमुपासनं स्यात्' इत्यादिना।

'उस परमात्मा को देख लेने (ध्यान में ले आने) पर हृदय की ग्रन्थियाँ (राग, द्वेषादि) छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, सारे सन्देह मिट जाते हैं, जीव के कर्म भी नष्ट हो जाते हैं (केवल प्रारब्ध कर्म रहता है)' (मु० २।२।८) [इस श्लोक में 'दर्शन' का अर्थ 'स्मृति' ही है] अतः दोनों वाक्यों में समानता है इसलिए ध्यान (ध्रुवा स्मृति) को भी दर्शन कहते हैं। उसी प्रकार 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५) इस वाक्य में ध्रुवा स्मृति को दर्शन के रूप में लिया गया है। भावनाओं के प्रकर्ष (विशेषता) के कारण स्मृति दर्शन के रूप में है भी। वाक्यकार (वृत्ति के रचयिता) ने इन सबों का सविस्तार वर्णन किया है—वेदन को उपासना कहते हैं इत्यादि।

तदेव ध्यानं विशिनष्टि श्रुतिः—

३२. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू॰ स्वाम् ॥
(कठ॰ २।२३)।

प्रियतम एव हि वरणीयो भवति। यथायं प्रियतम आत्मानं प्राप्नोति, तथा स्वयमेव भगवान् प्रयतत इति भगवतैवाभिहितम्—

३३. तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गी॰ १०।१०) इति।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
(गी॰ ८।२२) इति च।

श्रुति में इसी ध्यान की विशेषतायें बतलाई गई हैं—'इस आत्मा को प्रवचन (व्याख्यान exposition) से नहीं पा सकते हैं; न तो अधिक बुद्धि रखने से और न ही अधिक विद्या पाने से [इसे पा सकते]। जिस उपासक-विशेष का, [निदिध्यासन से प्रसन्न होकर] यह परमात्मा वरण (Selection) करता है, वही इसे पा सकता है। उस उपासक को यह परमात्मा अपना शरीर (रूप) दिखलाता है।' (कठ॰ २।२३)। सबसे अधिक प्रिय व्यक्ति का ही वरण किया जाता है। यह प्रियतम (उपासक) जिसमें आत्मा को प्राप्त करे, इसके लिए भगवान् स्वयं प्रयास करते हैं—यह भगवान् ने ही कहा है—'जो निरन्तर मेरे साथ युक्त होने की इच्छा करते हैं तथा प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि-योग (भक्ति) देता हूँ जिससे वे मेरे पास चले आते हैं।' (गी॰ १०।१०) तथा, 'हे अर्जुन, वह परम पुरुष (परमात्मा) अनन्य (एकनिष्ठ) भक्ति से ही पाया जा सकता है।' (गी॰ ८।२२) [इस प्रकार यह निदिध्यासन भक्ति का रूप धारण कर लेता है।]

(२१. भक्ति का निरूपण)

भक्तिस्तु निरतिशयानन्दप्रियानन्यप्रयोजन-सकलेतरवैतृष्ण्यवज्ज्ञानविशेष एव। तत्सिद्धिश्च विवेकादिभ्यो भवतीति वाक्यकारेणोक्तं—तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः सम्भवान्निर्वचनाच्चेति।

तत्र विवेको नामादुष्टादन्नात्सत्त्वशुद्धिः। अत्र निर्वचनम्—'आहारशुद्धेः सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धया ध्रुवा स्मृतिः' इति। विमोकः कामानभिष्वङ्गः। शान्त उपासीतेति निर्वचनम्।

भक्ति एक प्रकार के ज्ञान को ही कहते हैं जिसमें निरतिशय (Unsurpassable) आनन्द के समान प्रिय परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई भी प्रयोजन (लक्ष्य) नहीं है तथा जिसमें अन्य सभी विषयों से वितृष्णा या वैराग्य रहता है। [जिस ज्ञान का लक्ष्य परमात्मा है तथा जिसे पाकर सभी वस्तुओं से वैराग्य हो जाता है उसी ज्ञान को भक्ति कहते हैं।] उसकी सिद्धि विवेक आदि से होती है जैसा कि वाक्यकार ने कहा है—'उस (भक्ति) की प्राप्ति विवेक (Discrimination), विमोक (Exemption), अभ्यास (Practice), क्रिया (Observance), कल्याण (Excellence), अनवसाद (Freedom from Despondency) तथा अनुद्धर्ष (Satisfaction) के द्वारा, युक्ति (सम्भव) तथा निर्वचन (व्याख्या) के अनुसार, होती है।' [भक्ति की प्राप्ति के ये साधन हैं, इनमें दो बातें रहती हैं—सम्भव (युक्ति) अर्थात् प्रत्येक साधन का युक्तियुक्त लक्षण दिया जाता है तथा प्रत्येक की व्याख्या की जाती है जो प्रामाणिक वचनों के रूप में रहती है। इस प्रकार लक्षण और व्याख्या करके भक्ति-प्राप्ति के उपायों को समझते हैं।]

उनमें **विवेक** का अर्थ है, अ-दूषित अन्न से सत्त्व (प्रकृति) की शुद्धि, [यह सम्भव है।] अब इसका निर्वचन है—'आहार की शुद्धि से प्रकृति शुद्ध होती है, प्रकृति की शुद्धि से ध्रुवा स्मृति प्राप्त होती है।' **विमोक** कामनाओं में आसक्ति न रखने को कहते हैं। इसका निर्वचन है—शान्त होकर (विषयों से अस्पृष्ट होने पर) उपासना करे।'

विशेष—अन्न (भोजन) तीन प्रकार के दोषों से दूषित होता है—जाति-दोष से लहसुन, प्याज आदि दूषित हैं। आश्रय-दोष से पतित, चाण्डाल आदि का अन्न दूषित होता है और निमित्त-दोष से जूठा, बासी आदि दूषित है। तीनों दोषों से रहित अन्न के सेवन से शरीर-शुद्धि होकर चित्त की शुद्धि होती है। भक्ति के साधनों का प्रथम लक्षण दिया जाता है। फिर प्रश्न उठता है कि क्यों इसे भक्ति या ध्रुवा स्मृति का साधन मानते हैं? तब आगम-प्रमाण दिया जाता है जिसमें उस साधन से सम्बद्ध बातें रहती हैं, इसी को निर्वचन कहते हैं।

पुनः पुनः संशीलनमभ्यासः। निर्वचनं च स्मार्तमुदाहृतं भाष्यकारेण—'सदा तद्भावभावितः' (गी० ८।६) इति। श्रौत-

स्मार्तकर्मानुष्ठानं शक्तितः क्रिया। 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति निर्वचनम्। सत्यार्जवदयादानादीनि कल्याणानि। 'सत्येन लभ्यत' इत्यादि निर्वचनम्। दैन्यविपर्ययोऽनवसादः। नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मु० ३।२।४) इति निर्वचनम्। तद्विपर्ययजा तुष्टिरुद्धर्षः। तद्विपर्ययोऽनुद्धर्षः। 'शान्तो दान्त' इति निर्वचनम्।

[देवता का] बार-बार चिन्तन करना **अभ्यास** है, इसके लिए भाष्यकार (रामानुज) ने स्मृति से ही निर्वचन उद्धृत किया है—'उस (परमात्मा) के भावों में जो व्यक्ति सदा ही निरत है' (गी० ८।६)। अपनी शक्ति के अनुसार श्रुतियों और स्मृतियों (पुराणों और इतिहासों) में प्रतिपादित कर्मों का अनुष्ठान (Performance) करना **क्रिया** है। इसका निर्वचन यह है—'जो पुरुष क्रियायुक्त है वह ब्रह्मवेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ है।' सत्य (सब जीवों की भलाई), आर्जव (मन, वचन और कर्म की एकरूपता), दया (अपने स्वार्थ पर ध्यान न रखते हुए दूसरों के दुःखों को न सहना), दान (बिना लोभ के द्रव्यादि देना) आदि कार्यों को **कल्याण** कहते हैं। इसका निर्वचन है—'सत्य से पाया जाता है' इत्यादि। [देश, काल की प्रतिकूलता के कारण या शोक-वस्तु के स्मरण से उत्पन्न मन की शिथिलता को दीनता कहते हैं उसी] दीनता से रहित होने को **अनवसाद** कहते हैं। इसका निर्वचन है—'बलहीन व्यक्ति इस आत्मा को नहीं पा सकते' (मु० ३।२।४)। उपर्युक्त दीनता के विरुद्ध कार्यों (देश-काल की अनुकूलता होने या प्रिय-वस्तु का स्मरण करने से मन की शिथिलता से उत्पन्न सन्तोष को उद्धर्ष कहते हैं, इसका उलटा **अनुद्धर्ष** है, [शोक की तरह अति संतोष भी मन को शिथिल कर देता है इसलिए उसका अभाव कहा गया है (अभ्यं०)]। इसका निर्वचन है—'जो पुरुष शान्त है, इन्द्रियों को दबाये हुए है।'

विशेष—उद्धर्ष (उत् = अधिक, हर्ष = प्रसन्नता)। कोई बड़ी प्रसन्नता की बात सुनकर मन बाँसों उछल पड़ता है, मनुष्य को अपने-ऊपर नियन्त्रण नहीं रहता। यह सन्तोष नहीं, अति सन्तोष की अवस्था है। पर ऐसा सन्तोष नहीं चाहिए, सन्तोष ऐसा हो जिसमें मन का नियन्त्रण (दान्त) रहे। इसलिये दोनों ही सन्तोष है, एक अतिसन्तोष, दूसरा शान्तिपूर्ण सन्तोष। पहले को हम विलासमय सन्तोष (Luxurious satisfaction) कहते हैं जो असंतोष ही है। दूसरा शान्ति की अवस्था (State of tranquillity) है। यही कारण है कि इसके निर्वचन में 'शान्तः दान्तः' का प्रयोग किया है।

तदेवमेवंविधनियमविशेषसमासादित-पुरुषोत्तम-प्रसाद-विध्वस्त-तमःस्वान्तस्य अनन्यप्रयोजनानवरतनिरतिशय-प्रिय-विशदात्मप्रत्ययावभासतापन्नध्यानरूपया भक्त्या पुरुषोत्तमपदं लभ्यत इति सिद्धम्। तदुक्तं यामुनेन—उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगो लभ्य इति। ज्ञानकर्मयोगसंस्कृतान्तःकरणस्येत्यर्थः।

इस प्रकार वह व्यक्ति जो इन विशेष नियमों का सम्पादन करके प्रसन्न किये गये पुरुषोत्तम भगवान् की कृपा से अपने भीतर के सारे अन्धकारों को नष्ट कर चुका है, ऐसी भक्ति से पुरुषोत्तम का पद प्राप्त करता है जिस भक्ति में [परमात्मा को छोड़कर] कोई दूसरा प्रयोजन नहीं रखकर, निरन्तर, सबसे अधिक (निरतिशय) प्रिय आत्मा के विशद प्रत्यय (विचार) अर्थात् स्पष्ट अवभास का ध्यान किया जाता है। [इस लम्बे समस्त-पद-युक्त वाक्य का अर्थ यही है कि उपर्युक्त नियमों से परमेश्वर को पाकर उनकी कृपा से सारे कर्मों का क्षय कर दें तथा उनमें निरन्तर ध्यान लगाकर उनकी भक्ति दिखलायें जिससे परमेश्वर का परम पद वैकुण्ठ प्राप्त हो।]

यामुनाचार्य (समय १०४० ई०, रचनायें—आगमप्रामाण्य, सिद्धित्रय, गीतार्थसंग्रह और स्तोत्ररत्न) ने कहा है—'दोनों (ज्ञान और कर्म) के द्वारा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया हो वही एकान्तिक (final) तथा आत्यन्तिक (Absolute) पूर्ण भक्तियोग पा सकता है।' तात्पर्य यह है कि ज्ञानयोग और कर्मयोग से जिसका अन्तःकरण संस्कारवान् हो चुका है [वही व्यक्ति परमपद पा सकता है।]

(२२. द्वितीय सूत्र—ब्रह्म का लक्षण)

किं पुनर्ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्यपेक्षायां लक्षणमुक्तम्—'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्रम् १।१।२) इति। जन्मादीति सृष्टिस्थितिप्रलयम्। तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। अस्याचिन्त्यविविधविचित्ररचनस्य नियतदेशकालभोगब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तक्षेत्रज्ञमिश्रस्य जगतो, यतो = यस्मात् सर्वेश्वरात् निखिलहेयप्रत्यनीकस्वरूपात् सत्यसंकल्पाद्यनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणात् सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः पुंसः सृष्टिस्थितिप्रलयाः प्रवर्तन्त इति सूत्रार्थः।

अब प्रश्न होता है कि किस ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए? इसकी आशंका से ही ब्रह्म का लक्षण कहा गया है—जिससे इस (संसार) के जन्मादि होते हैं' (ब्र० सू० १।१।२) जन्मादि का अर्थ है सृष्टि, स्थिति और प्रलय। ['जन्मादि' शब्द में] बहुव्रीहि समास है जो अपने अन्दर स्थित पदों के अर्थों को भी ग्रहण करता है (तद्गुणसंविज्ञान)। सूत्र का यह अर्थ है -अस्य = इस अचिन्तनीय (inconceivable) विविध प्रकार की विचित्र रचनाओं वाले तथा निश्चित देशकाल में फल को भोगने का नियम ब्रह्मा से लेकर तृण (स्तम्ब) पर्यन्त सभी जीवों (क्षेत्रज्ञों) में जहाँ समान (मिश्र) है, ऐसे जगत् का, यतः = वे सर्वेश्वर, जो सभी त्याज्य गुणों के विरोधी रूप में रहते हैं, जो सत्यसंकल्प (firm resolution) आदि अनन्त अतिशयों से युक्त हैं, असंख्य कल्याणकारी गुणों के भाण्डार हैं, सर्वज्ञ हैं तथा सर्वशक्तिमान् हैं, उन पुरुषोत्तम से, सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय—ये सभी प्रवृत्त होते हैं।

विशेष—बहुव्रीहि समास के स्वपदार्थ को लेकर दो भेद हैं—तद्गुण-संविज्ञान और अतद्गुणसंविज्ञान। जब समास में स्थित पदों के अर्थों का (तद्गुणानां) सम्बन्ध कार्य (क्रिया) से हो तब उसे तद्गुणसंविज्ञान कहते हैं जैसे—लम्बकर्णमानय। यहाँ 'आनय' (लाओ) क्रिया से 'लम्ब' और 'कर्ण' दोनों के अर्थों का सम्बन्ध है—लम्बे कान वाले पशु को लाना है; पशु के साथ ये दोनों भी आते हैं। दूसरी ओर, 'दृष्टसागरमानय' में 'आनय' का सम्बन्ध दृष्ट और सागर के साथ नहीं है। जब पुरुष को लाया जायगा, तब सागर और दृष्ट शब्दों के अर्थ नहीं होंगे। यह अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि (Bahu-vrihi of separable attribute) है। कभी-कभी तद्गुणसंविज्ञान शब्द की व्याख्या इस प्रकार होती है—तत्=विशेष्य, गुण=विशेषण, सम्=एक करना। जिस बहुव्रीहि में विशेष्य और विशेषण को एक क्रिया से सम्बद्ध जाना जाय, वह तद्गुणसंविज्ञान है। लम्ब और कर्ण शब्द 'पशु' के विशेषण हैं पशु विशेष्य है। अतः पशु को लाने के साथ इसके विशेषणों को भी लाना अभीष्ट होता है लम्ब और कर्ण को पृथक् करके पशु नहीं लाया जा सकता। लेकिन पुरुष को लाते समय 'सागर' नहीं आता और न आता है 'दृष्ट' शब्द का अर्थ—ये विशेषण विशेष्य से पृथक् हो गये। 'जन्म आदि यस्य तत्' में भी तद्गुणसंविज्ञान (Inseparable attribute) है क्योंकि ब्रह्म के कार्यों में सबों का ग्रहण हो जाता है, जन्म और आदि दोनों का।

जगत् के दो विशेषण दिये गये हैं—एक में अचित् का विश्लेषण है दूसरे में चित् का। अचिदंश के विषय में सोचना भी कठिन है कि वह कितने प्रकार का है और कितना विचित्र है। वह जीव की कृति नहीं है कि उसके विषय में

कुछ सोच-विचार कर सकें, यह तो ईश्वर की अचिन्त्यशक्ति का मूर्तरूप है। दूसरी ओर चिदंश है जिसमें फलभोग का सर्वसाधारण नियम सभी जीवों में लगा हुआ है चाहे वह ब्रह्मा हो या तुच्छ तृणखण्ड हो, उसे किसी विशिष्ट काल और देश में फल भोगना ही पड़ता है।

इस प्रकार, ब्रह्म वह है जिससे संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है।

(२३. तृतीय सूत्र—ब्रह्म के विषय में प्रमाण)

इत्थंभूते ब्रह्मणि किं प्रमाणमिति जिज्ञासायां शास्त्रमेव प्रमाणमित्युक्तम्—'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति। शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणं यस्य तच्छास्त्रयोनि। तस्यभावः तत्त्वं तस्मात्। ब्रह्मज्ञानकारणत्वाच्छास्त्रस्य तद्योनित्वं ब्रह्मणः इत्यर्थः।

इस प्रकार के ब्रह्म को सिद्ध करने के लिए क्या प्रमाण है ? यदि यह पूछा जाय तो उसका उत्तर पहले से ही तैयार है कि शास्त्र ही ब्रह्म की सिद्धि के लिए प्रमाण हैं— क्योंकि शास्त्र ही उस (ब्रह्म की सिद्धि) के लिए प्रमाण (योनि) हैं' (ब्र० सू० १।१।३)। शास्त्र जिसकी योनि अर्थात् कारण या प्रमाण है वह (ब्रह्म) शास्त्रयोनि है। उसका भाव या तत्त्व (शास्त्रयोनित्व), इस कारण से—[शास्त्रयोनित्वात्]। शास्त्र चूँकि ब्रह्मज्ञान का कारण है इसलिए वह ब्रह्म की योनि (कारण) कहलाता है। यही अर्थ हुआ।

न च ब्रह्मणः प्रमाणान्तरगम्यत्वं शङ्कितुं शक्यम्। अतीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षस्य तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नापि महार्णवादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवदित्यनुमानम्। तस्य पूतिकूष्माण्डायमानत्वात्। तल्लक्षणं ब्रह्म 'यतो वा इमानि भूतानि' (तै० २।१।१) इत्यादि वाक्यं प्रतिपादयतीति स्थितम्।

ऐसी शंका भी नहीं की जा सकती कि ब्रह्म [शास्त्र=आगम के अतिरिक्त] किसी दूसरे प्रमाण से जाना जा सकता है। वह (ब्रह्म) इन्द्रियों की पहुँच के परे है इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण की तो वहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। 'समुद्र आदि सकर्तृक (Having a doer) हैं क्योंकि ये कार्य हैं जैसे घट' इस प्रकार का अनुमान [जैसा कि नैयायिक लोग ईश्वर की सिद्धि के लिए उपस्थित करते हैं] भी नहीं हो सकता क्योंकि यह पूति-कूष्माण्ड (गले हुए कुम्हड़े) की तरह

[दूरसे ही त्याग करने योग्य] है। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त ब्रह्म का प्रतिपादन 'जिससे ये सब दृश्यमान पदार्थ निकले···' (तै० २।१।१) इत्यादि वाक्य करते हैं—यह सिद्ध हो गया।

विशेष—पूति का अर्थ 'गला हुआ' तथा एक लता विशेष भी है। जिस प्रकार पूति लता में कुम्हड़े का फल नहीं हो सकता उसी प्रकार उक्त हेतु से साध्य (सकर्तृकत्व) की सिद्धि नहीं हो सकती। समुद्र, पर्वत आदि का निर्माण कोई कर रहा है, ऐसा नहीं मिलता। इसलिए कार्यत्व-हेतु असिद्ध है। न तो इसे प्रत्यक्ष से ही जानते हैं न अनुमान से ही। इसके अलावे यदि पर्वत, समुद्र आदि को कार्य के रूप में स्वीकार करें तो भी यह नहीं प्रमाणित होता कि किसी एक (कर्ता) ने ही उन सबों का निर्माण किया है जिससे एक ईश्वर को ही सबों का निर्माता सिद्ध करें। यह भी नहीं कह सकते कि जीवों में पर्वतादि निर्माण करने की सामर्थ्य नहीं है—बड़े-बड़े महर्षियों और देवताओं में सिद्धि के बल से ऐसी सामर्थ्य पाई गई है। इसके अतिरिक्त संसार का निर्माता ईश्वर शरीरधारी है कि शरीरहीन ? यदि शरीरहीन है तो कर्ता बन नहीं सकता क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। शरीरधारी होने पर उसका शरीर नित्य होगा या अनित्य। यदि नित्य है तो अवयवों से युक्त वह ईश्वर नित्य होगा और संसार भी नित्य माना जायगा। जब संसार नित्य ही है तो कार्य (उत्पन्न) कैसे होगा ? उसकी उत्पत्ति की क्या आवश्यकता ? वह तो सदा से है—इस प्रकार ईश्वर की सिद्धि नहीं होगी। यदि उसका शरीर अनित्य है तो किसने शरीर को उत्पन्न किया ? स्वयं ईश्वर ने ही किया तो भी ठीक नहीं क्योंकि शरीरहीन वैसा नहीं कर सकता। यदि दूसरे शरीर से उत्पन्न किया तो फिर प्रश्न होगा कि उस शरीर को किसने उत्पन्न किया ? इस प्रकार अनवस्था होगी। इसके अतिरिक्त शरीर के अभाव में संसार का उत्पादन-रूपी कोई भी व्यापार उससे सम्भव नहीं है। जब व्यापार नहीं तो, तो वह कर्त्ता कैसे बनेगा ?

इस पूरे विचार से सिद्ध हुआ कि ईश्वर की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। अन्य सभी प्रमाण निरस्त हैं, अतः आगम-प्रमाण से ही ब्रह्म की सिद्धि हो सकती है।

(२४. चतुर्थ सूत्र—शास्त्रों का समन्वय)

यद्यपि ब्रह्म प्रमाणान्तरगोचरतां नावतरति तथापि प्रवृत्ति-निवृत्तिपरत्वाभावे सिद्धरूपं ब्रह्म न शास्त्रं प्रतिपादयितुं प्रभवती-त्येतत्पर्यनुयोगपरिहारायोक्तम्—'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू०

१।१।४) इति । तुशब्दः प्रसक्ताशङ्काव्यावृत्त्यर्थः । तच्छास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः सम्भवत्येव । कुतः ? समन्वयात् । परमपुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणोऽभिधेयतयान्वयादित्यर्थः ।

यह शंका की जा सकती है कि यद्यपि ब्रह्म को दूसरे प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता, फिर भी यदि शास्त्र प्रवृत्ति और निवृत्ति का संकेत न करे तो सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादन वह नहीं कर सकता। [यदि शास्त्र सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादन करता है तो किसी का प्रवर्तक और निवर्तक वह नहीं हो सकता। इसलिए न तो वह सुख की प्राप्ति करा सकेगा, न दुःख की निवृत्ति ही। बिना प्रयोजन के उसे कौन पढ़ेगा ? अतः शास्त्र अप्रामाणिक न हो, इसलिए उसे सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादक नहीं होना चाहिए।] इसी शंका के परिहार के लिए कहा गया है—'उस (शास्त्र-प्रमाण) को तो समन्वय (Reconciliation) से [समझते हैं] (ब्र० सू० १।१।४)। यहाँ 'तु' (तो) शब्द प्राप्त शंका की निवृत्ति करने के लिए है। तत् = शास्त्र के द्वारा प्रमाणित होना, ब्रह्म के विषय में सम्भव है, पर कैसे ? समन्वय से अर्थात् परम पुरुषार्थ स्वरूप ब्रह्म ही अभिधेय [इन शास्त्रों में] है, जिनके साथ उसका सम्बन्ध दिखाया गया है। [प्रथम सूत्र में ब्रह्म का ही नाम लिया गया है, वही मनुष्यों का अन्तिम लक्ष्य है, यही उद्देश्य है, उसी का सम्बन्ध शास्त्रों के साथ दिखलाया गया है। इससे पता लगता है कि सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादन करने पर भी शास्त्र सप्रयोजन हैं।]

न च प्रवृत्तिनिवृत्त्योरन्यतरविरहिणः प्रयोजनशून्यत्वम् । स्वरूपपरेष्वपि 'पुत्रस्ते जातो' 'नायं सर्पः' इत्यादिषु हर्षप्राप्तिभयनिवृत्तिरूपप्रयोजनवत्त्वं दृष्टमेवेति न किञ्चिदनुपपन्नम् । दिङ्मात्रमिह प्रदर्शितम् । विस्तरस्त्वाकरादेवावगन्तव्य इति विस्तारभीरुणोदास्यत इति सर्वमनाकुलम् ।

॥ इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे रामानुजदर्शनम् ॥

ऐसी बात नहीं है कि प्रवृत्ति या निवृत्ति में से किसी एक के न होने से कोई चीज निरर्थक हो जाती है। केवल वस्तुस्थिति (या स्वरूप) का निर्देश करनेवाले 'तुम्हें पुत्र उत्पन्न हुआ', 'यह साँप नहीं है' इस प्रकार के [सिद्ध] वाक्यों में हर्ष की प्राप्ति तथा भय की निवृत्ति रूपी प्रयोजन होता तो है ही—फिर भी कोई इन्हें असिद्ध नहीं कहता। [तात्पर्य यह निकला कि सिद्ध-वाक्य में भी प्रयोजन रहता है। इसलिए सिद्ध-ब्रह्म के प्रतिपादन के लिए प्रवृत्त

शास्त्रों में प्रवृत्ति-निवृत्ति है, वे शास्त्र अर्थवान् (सप्रयोजन) हैं—इसमें सन्देह नहीं ।]

यहाँ इस दर्शन का केवल सामान्य निर्देश किया गया है, विस्तारपूर्वक सिद्धान्तों का निरूपण आकर-ग्रन्थों (जैसे श्रीभाष्य, तत्त्वमुक्ताकलाप, यतीन्द्र-मतदीपिका आदि) से ही समझ लें । विस्तार होने के भय से अब आगे की बातें छोड़ दें, सब कुछ स्पष्ट है ।

इस प्रकार श्रीमान् सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में रामानुजदर्शन [समाप्त हुआ] ।

॥ इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां रामानुजदर्शनमवसितम् ॥